आदिशंकराचार्य

लेखक एवं प्रकाशक

धर्मपाल कपूर

बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,

पंचकूला-134112 (हरियाणा)

फोन : 0172-2567845

मोबाइल : 9356301618

संस्करण : 2017
प्रतियाँ :

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. +91-94683 40497**
मुद्रक :

भूमिका

आदिशंकराचार्य भारतीय इतिहास के उज्ज्वल नक्षत्रों में से एक हैं। वे न केवल भारत अपितु विश्व की अन्यतम विभूतियों में से हैं। वस्तुतः भारतवर्ष का सदा से यह सौभाग्य ही रहा है कि समय-समय पर यहाँ कोई न कोई त्यागी, तपस्वी और तेजस्वी महानात्मा अवतरित होती रही है और देश, धर्म और समाज का युगानुकूल मार्ग-दर्शन करती रही है। भले वह वशिष्ठ हों या विश्वामित्र हों, वाल्मीकि हों या वेदव्यास हों, श्रीराम हों या श्रीकृष्ण हो। आदिशंकराचार्य भी देश की उन्हीं सर्वोत्कृष्ट विभूतियों में से एक थे। अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम जेम्स अपने समय के मनोविज्ञान शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रंथ "Meaning of Truth" में लिखा है—

शंकर संसार के अद्वैतवादी दार्शनिक के सम्राट् थे

इसी प्रकार जर्मनी में महान् दार्शनिक काण्ट के मतानुसार शंकर काण्ट से भी ऊँचे दार्शनिक थे।

प्रिय पाठकगण जी! आप से सविनय निवेदन है कि आप भी इस रूहानी गुलदस्ते रूपी आचार्य शंकर की संक्षिप्त जीवनी के फूलों को देखिये और झूम-झूम कर आनंद विभोर हो जाइए। प्रस्तुत पुस्तक जो मैंने सच्ची लगन एवं कड़ी मेहनत के पश्चात् लिखा है ताकि इस महामानव के संस्कार नई पीढ़ी तक पहुँचे। इसी प्रेरणा से इस पुस्तक की रचना की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में मुझे सर्वश्री लालचंद चौहान जी, सत्यपाल मोदी जी, रोशन लाल अग्रवाल जी, जय किशन जी, नरेश बंसल जी आदि ने सहयोग प्रदान किया है। अतः इन मित्रों का स्तवन न करना मेरी कृतघ्नता होगी। विशेषता श्री लालचंद चौहान जी ने इस

पुस्तक के सम्पादन में विशेष योगदान दिया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि उनके बिना प्रस्तुत पुस्तक का वर्तमान रूप में संयोजन नहीं हो पाता। मैं उन सभी लेखकों एवं कृतिकर्ताओं का भी अत्यंत धन्यवादी हूँ जिनकी कृतियों से मैंने संदर्भ उद्धृत किये हैं।

जिस अचिंत्य शक्ति प्रभु की असीम अनुकम्पा से मैं अपने संकल्प को मूर्तरूप दे सका उसका भी मैं कोटि-कोटि धन्यवाद करता हूँ। मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है। परन्तु अल्पज्ञ एवं अपूर्ण होने के कारण फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो पाठकों से अनुरोध है कि उससे अवगत करायें ताकि उसको सुधारा जा सके। कृपया विरोधाभास की दृष्टि से त्रुटि को न देखा जाये।

धर्म पाल कपूर

तिथि : 26.8.2016

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

निवेदन

विश्व के इतिहास में बहुत कम ऐसे विद्वान्, ऋषि, महर्षि, मुनि आदि हुए हैं जिन्होंने ईश्वर , जीवात्मा और प्रकृति को ठीक प्रकार से समझा और अन्यों को समझाने का भी भरसक प्रयास किया हो । ऐसे व्यक्तियों की महानता विश्व विख्यात हो जाती है । संसार में प्रायः बहुत कम लोग हुए हैं जिन्होंने सत्य स्थापित करने के लिये असत्य का खण्डन किया हो ।

किसी भी पदार्थ के सच्चेस्वरूप को जानने-समझने के लिए धरती तल के प्रत्येक बुद्धिमान्, विवेकशील व्यक्ति व समाज की जो भी सर्वमान्य कसौटी होगी, उसमें खण्डन एक अनिवार्य घटक अवश्य होगा । खण्डन का सहारा लिये बिना संसार के इतिहास के किसी काल खण्ड में कोई भी मान्य महानुभाव किसी भी सत्य को स्थापित करने में सफल होता, तो खण्डन की अनिवार्यता कभी की समाप्त हो चुकी होती । खण्डन का उद्देश्य सत्य की वृद्धि और असत्य का ह्रास ही होना चाहिए । किसी को दुःख पहुँचाने, हानि करने या किसी पर झूठे दोष लगाने के लिए नहीं ।

आदिशंकराचार्य के समय के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उस समय भी सम्पूर्ण देश विघटन के कगार पर इसी प्रकार खड़ा था जैसे आज खड़ा है । सभी में परस्पर विद्वेष भरा हुआ था । सभी बंटे हुए थे । बौद्धमत उस समय सर्वाधिक प्रचलित मत था । देश में एक तरफ शून्यवाद, दूसरी तरफ अनेकान्तवाद, तीसरी तरफ तान्त्रिक उपासना, वैदिक धर्म को लुप्त कर रही थी । इससे देश बिखरता, टूटता जा रहा था । उसमें धीरे-धीरे अव्यवस्था फैलती जा रही थी । धर्म प्रधान देश में अधर्म बढ़ता जा रहा था । देश की स्थिति इस दृष्टि से अत्यंत शोचनीय हो गई थी, वैदिक धर्म अवैदिकता के पंक में धंसता जा रहा था । चारों ओर अकर्मण्यता फैल रही थी ।

ऐसे समय आदिशंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ, उन्होंने धर्म के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात किया। आदिशंकराचार्य जी का उल्लेख होते ही उनके द्वारा स्थापित भारत की एकता, अखण्डता, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, कर्म, ब्रह्मविद्या, मोक्ष, ज्ञान, बुद्धि आदि सभी के एक नहीं अनेक दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। काशी में वह उच्च चोटी के पंडितों में गिने जाने लगे थे, विद्वान् लोग उनकी संगति का लाभ उठाने के लिये उत्सुक रहने लगे थे तथा उनका उपदेश सुनने को व्याकुल रहने लगे थे। काशी नरेश भी उनके शिष्य हो गये थे। छोटी ही आयु में उसने यह ख्याति प्राप्त कर ली थी।

मंडनमिश्र से शास्त्रार्थ–

शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र ने कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादिक करने में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। मीमांसक लोग कर्म को ही श्रेष्ठ सत्ता मानते हैं। आदिशंकराचार्य ने अकाट्य तर्क देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया। शास्त्रार्थ सुनने को नर-नारी उपस्थित थे। 18 दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा।

मंडनमिश्र – ठीक है। वेद विरोधी धर्म का तो नाश होना ही चाहिये लेकिन जिस धर्म का आप प्रचार कर रहे हैं, वह तो वैदिक धर्म नहीं है। घर-घर में हवन होंगें, चारों ओर वेदमंत्रों की स्वरलहरी गूंजेगी और उससे वायुमण्डल शुद्ध होगा, तभी वैदिक धर्म का प्रचार होगा। पिछले 1000 वर्षों में वैदिक धर्म पर कितने आघात हुए, इनकी रक्षा के लिये कितने प्रयत्न हुए, क्या सब बेकार जाने दें? इस दीर्घ काल में जिस धर्म का विकास हुआ है वह वैदिक धर्म ही है।

आदिशंकराचार्य की समानता की भावना–

आचार्य जी सभी के प्रति समान भाव रखते थे, चाहे वह व्यक्ति छोटा हो या ऊँचा अथवा महान् से महान्, वे सबको समानता के स्वभाव के कारण प्रिय थे। उन्हें कभी ऊँच-नीच या छुआछूत की भावना ने भी कभी न छुआ था। उन्होंने जैनमत, बौद्धमत, वैशेषिक

मत आदि का खण्डन किया और विजय प्राप्त की।

सर्वज्ञपीठ में प्रवेश–

तक्षशीला से आचार्य कश्मीर की ओर गये, उनके श्रीनगर पहुँचते-पहुँचते चारों ओर विभिन्न मतों के विद्वान् भी वहाँ पहुँचे। शंकर की विजय पताका सम्पूर्ण देश में फैल चुकी थी। अन्त में ही वे कश्मीर के सर्वज्ञ पीठ के निकट आदि शंकराचार्य ने वेदान्त की चर्चा को घर-घर पहुँचाने का भरसक प्रयास किया। उन्होंने कईबार देश का भ्रमण किया और अवैदिक मतों व मूर्तिपूजा का पुरजोर खण्डन करते रहे।

आदिशंकराचार्य और मूर्तिपूजा–

शंकर जी ने समस्त अवैदिक पाखण्डों का बड़ी दृढ़ता से खण्डन किया है। उन्होंने बड़े ही तर्क-वितर्क के साथ मूर्तिपूजा का खण्डन किया जिसके कुछ तथ्य निम्न प्रकार से हैं–

सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा का मूर्ति विशेष में आवाहन कैसे हो सकता है? तथा सर्वाधार ईश्वर को सिंहासन पर कैसे बिठाया जा सकता है? अरे निर्मल को स्नान कैसा? विश्वोदर के लिये वस्त्र कैसे? निर्लेप के लिए गंध क्या? निर्वसन के लिए पुष्प क्या? स्वयं प्रकाश के लिए दीपक क्या दिखाना? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी? जो बाहर भीतर परिपूर्ण है उसके लिए विसर्जन कराना क्या? उस नित्यानन्द के लिए दक्षिणा का क्या काम? जो सब का दाता उसे क्या चाहिए?

इसके साथ ही शंकर जी ने ईश्वर अवतारवाद का भी खण्डन किया– एक वस्तु में एक ही समय में दो विरोधी गुण नहीं हो सकते। ईश्वर निराकार, अजन्मा है, वह कभी शरीर धारण नहीं करता। शरीर धारण करने से ईश्वर सर्वज्ञ न रहेगा, एक देशी हो जायेगा। इस अवस्था में वह विश्व का संचालन किस प्रकार से कर पायेगा? ये सोच निर्बुद्धियों की है विद्वानों की नहीं। सभी ऋषि, महर्षि, मुनि ईश्वर को

निराकर मानते आए हैं ।

आदिशंकराचार्य का भारतीय जन-जीवन पर प्रभाव–

आचार्य जी के कार्यों का हमारे धर्म समाज, संस्कृति और राष्ट्र पर बड़ा ठोस दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा है । उसका मुख्य कारण उनकी सद्दाम राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत और सम्पूर्ण देश में एकात्मता स्थापित करने की भावना, प्रखर ज्ञान प्रतिभा के आधार पर सभी प्रकार की समस्याओं का समुचित ढंग से निदान करने और तर्कों का यथोचित उत्तर देने की योग्यता एवं क्षमता, विभिन्न मत मतान्तरों से प्रेम और सद्भाव से समुचित समन्वय लाने की प्रक्रिया और परम्परागत वैदिक सिद्धान्तों की विवेकपूर्ण कसौटी पर परख कर जनता के सामने लाकर उनको स्वीकार करा लेने की दृढ़ता में निहित था । उन्होंने देश के जन-जीवन को हर दृष्टि से प्रभावित किया है ।

श्री शंकर एवं महर्षि दयानन्द–

आदिशंकराचार्य व दयानन्द दोनों संन्यासी थे । दोनों ही सत्य की खोज में निकले थे । दोनों ने वैदिक धर्म का प्रचार किया, पाखण्ड का खण्डन किया । परन्तु शंकराचार्य और महर्षि दयानन्द की वैदिक मान्यताओं और वेद शास्त्रों के आधार पर बहुत भिन्नता है । इस बात को आम साधारण व्यक्ति नहीं समझ पाते हैं अर्थात् उनकी पहुँच वहाँ तक नहीं होती, उस को विद्वान् वेदवेता ही जान सकते हैं । कुछ लोगों का यह मानना है कि दोनों के सिद्धान्त एक ही थे, परन्तु ऐसा नहीं है, महर्षि दयानन्द और शंकर जी की मान्यताओं में अर्थात् सिद्धान्तों में काफी पृथकता है । उसका ज्ञान महर्षि दयानन्द द्वारा बनाये ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि आदि के स्वाध्याय और शंकर जी के द्वारा बनाये गये ग्रंथों के स्वाध्याय से ही हो सकता है ।

इस देश में पाखण्ड पर पलने वालों की संख्या बहुत अधिक है और सत्य का उपदेश करने वालों की संख्या नाममात्र ही है । सत्य के

प्रचार से असत्य का पर्दाफास होता है, इसलिए असत्य पर पलने वाले सत्यवादियों को मिटाने का हर सम्भव प्रयास करते रहते हैं। वे मानवता के शत्रु हैं। मानवता के शत्रुओं ने आदि शंकराचार्य एवं महर्षि दयानन्द जैसे परोपकार संन्यासियों को असमय से ही छीन लिया। ऐसे लोग ही जनता को पाखण्ड की भट्टी में झोंक रहे हैं।

श्री धर्मपाल कपूर जी ने आदिशंकराचार्य जी के जीवन काल में उनके द्वारा किये गये धर्म प्रचार, उनके द्वारा लिखे गये ग्रंथ उनकी विद्वता, कर्मठता, योग्यता का परिचय इस पुस्तक में दिया हैं हमें अपने महापुरुषों के आदर्श जीवन से शिक्षा लेनी चाहिये और हर व्यक्ति को समाज में पनप रही बुराइयों के प्रति आवाज़ उठानी चाहिये, क्योंकि जब तक समाज द्वारा बुरे को बुराई का अहसास न कराया जाये तब तक वह बुराई को त्यागने को उद्यत नहीं होता। यदि समाज के लोग समाज से बुराइयों को खत्म करके का दृढ़ निश्चय कर लें तो बुराई समाज में ठहर नहीं सकती। बुरे लोगों की संख्या कम होती है।

श्री धर्मपाल जी कपूर पुस्तको का निःशुल्क वितरण करते हैं और पुस्तकों के माध्यम से महर्षि, ऋषि, मुनियों, महापुरुषों के सत्य उपदेश को घर-घर पहुँचाने का प्रयास करते रहते हैं। बहुत ही लगनशील है। यह उनकी परोपकारी भावना है। ईश्वर इन्हें दीर्घ आयु प्रदान करे।

लालचंद चौहान
से.नि., राज्य विकास अधिकारी,
कोठी नं. 591/12, पंचकूला।
फोन - 0172-2563079
मो. 9814881501

विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

विषयसूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ
1.	आदिशंकराचार्य के समय की परिस्थितियाँ	1
2.	जन्म	6
3.	शिक्षा व संन्यासी बनने के लिए गृहत्याग	9
4.	गुरुप्राप्ति और ब्रह्मतत्त्व का उपदेश	11
5.	परमगुरु के दर्शन और बद्रीनाथ मंदिर निर्माण	12
6.	मातृसेवा और गुरुविछोह	13
7.	काशी में निवास और चाण्डाल से भेंट	14
8.	महर्षि व्यास के दर्शन और दिग्विजय का श्रीगणेश	16
9.	कुमारिल भट्ट से साक्षात्कार	17
10.	मंडन मिश्र से मिलन एवं शास्त्रार्थ	18
11.	शंकर एवं उभय भारती शास्त्रार्थ	22
12.	शिष्य निर्माण और दिग्विजय यात्राएँ	23
13.	मठव्यवस्था	25
14.	आदिशंकराचार्य की आयु एवं कार्यों पर एक दृष्टि	26
15.	सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी आदिशंकराचार्य	28
16.	आदिशंकराचार्य की दिग्विजय यात्रा	33
17.	आदिशंकराचार्य और मूर्तिपूजा	46
18.	आदिशंकराचार्य और ईश्वर	49
19.	आदिशंकराचार्य द्वारा साहित्यसृजन	50
20.	आदिशंकराचार्य के दार्शनिक विचार	56
21.	आदिशंकराचार्य का भारतीय जन-जीवन पर प्रभाव	61
22.	श्रीशंकर एवं महर्षि दयानन्द	71
23.	महाप्राण	71

आदि शंकराचार्य

(1)

आदिशंकराचार्य के समय की परिस्थितियाँ

संसार में जितने भी समाज सुधारक हुए हैं उनमें से अधिकांश ने अपने समय में व्याप्त परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालकर यथावश्यक परिवर्तन द्वारा उनमें सुधार करके समाज को नई प्रेरणा देकर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। लेकिन कुछ ऐसे भी महान् व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने अपने समय की सभी प्रकार की परिस्थितियों को चाहे वे कितनी भी विपरीत क्यों न रही हों, अपनी दृढ़ता, अपनी ऊर्जा और अपनी विद्वता से, अपने विचारों के अनुकूल ढालकर उनमें परिवर्तन करके देश, धर्म और समाज को समुचित मार्ग दर्शन देकर उनकी उन्नति कराई है। आदिशंकराचार्य दूसरे प्रकार के व्यक्तित्व सम्पन्न महापुरुष थे।

उनका प्रभाव भारतीय राष्ट्र और संस्कृति पर इतना सुदृढ़, इतना गहरा और इतना दीर्घकालीन था कि पं० जवाहरलाल नेहरू जैसे साधु-संन्यासियों पर अविश्वास करने वाले महानुभाव को भी उनके यशस्वी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में कुछ लिखने को बाध्य होना पड़ा। राष्ट्रीयता के अग्रदूत आचार्य शंकर के कार्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है–

> **कालटी के ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर एक कृषकाय संन्यासी ने बिना रक्त की एक बूँद बहाए हिन्दुओं के बहत्तर सम्प्रदायों, बौद्ध और जैन धर्म के अनेक वर्गों में ऐसी एकता स्थापित की कि सारा देश एकता के सूत्र में बँध गया।**

आचार्य शंकर के समय के इतिहास पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उस समय भी सम्पूर्ण देश विघटन के कगार पर इसी प्रकार खड़ा था जैसे कि आज खड़ा है। उस समय भी विघटन देश के भीतर वाले और बाहर वाले दोनों के ही द्वारा उत्पन्न किया गया था। केन्द्रीय

सत्ता कमजोर होती जा रही थी। उत्तर भारत में ही नहीं वरन् दक्षिण भारत में भी छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए थे। उनमें एकरुपता का पूरी तरह से अभाव था। सभी में परस्पर विद्वेष भरा हुआ था। सभी बँटे हुए थे। कुछ हिन्दू-सनातन धर्म को मानने वाले थे तो कुछ बौद्ध मत को। कई जगहों पर जैनाचार्यों को प्रधानता मिली हुई थी। कहीं पर शाक्तों को मान्यता मिली हुई थी तो कहीं गोरख और नाथ पंथी छाए हुए थे। सभी अपने-अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संघर्षरत थे। कोई किसी की नहीं सुनता था। हर कोई अपने को ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रमुख और सर्वग्राह्य मानकर चल रहा था।

बौद्ध मत उस समय का सर्वाधिक प्रचलित मत था। अनेक राजाओं ने और उनके प्रभाव के कारण उनकी प्रजा के अनेक धनिक और निर्धन व्यक्तियों ने जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी थे, इस मत को स्वीकार कर लिया था। बिम्बसार, अशोक, कनिष्क आदि राज्यों के काल में बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। सत्ता के सम्पर्क में आ जाने से बौद्ध साधुओं के मस्तिष्क पर राजमद छा गया था और उनके व्यवहार में राजनीति आ गई थी। वे अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए तरह-तरह के ओछे हथकण्डे अपनाने लगे थे। बड़े-बड़े चेत्य और विहार अत्याचार, अनाचार और दुराचार के अड्डे बन गऐ थे। बुद्ध के पवित्र जीवन और श्रेष्ठ विचार को लेकर चलने वाले उनके अनुयायी पतन के गहन गर्त में जा चुके थे। बौद्ध मत महायान और हीनयान दो भागों में बँट गया था।

जैन मत व्यापकता में बौद्ध मत से कम ही रहा किन्तु प्रभाव की दृष्टि से वह अधिक महत्वपूर्ण रहा। यद्यपि इसका उदय बौद्ध मत से पूर्व ही हुआ था किन्तु राज्याश्रय मिलने से बौद्ध मत का प्रचार अधिक मात्रा में हो गया था। बौद्ध विद्वानों एवं भिक्षुओं के अनथक प्रयास भी इसे काफी समय तक जीवित बनाए रखने में समर्थ रहे थे। उस समय भागवत्, कापालिक, जैन, चावार्क, कणाद, पौराणिक, ऐश्वर, कारणिक, कारन्धमिन, बौद्ध, तान्त्रिक, शाक्त, पाँचरात्र, पाशुपत,

आदि मतों की विकृतियों से देश अत्यन्त पीडित था। तन्त्रवादी, कापालिक आदि अनेक अवैदिक मतों के विस्तार का भी युग यही रहा है। तान्त्रिक लोग मद्य, मांस, मीन, मुदा, मैथुन, पाँच पदार्थों का उपयोग करते थे। कापालिक भी मद्य और मांस का प्रयोग करते थे। ये लोग घोर तपस्या करते थे। श्मशानवास, हड्डियों की माला, भस्मलेपन आदि अघोर कर्म भी ये लोग करते थे। कर्नाटक क्षेत्र में इनका अधिक प्रभाव था।

वैष्णव आगमों को पाँचरात्र कहा जाता है। रात्र का अर्थ ज्ञान होता है। परमतत्त्व, मुक्ति, युक्ति, योग, संसार–इन पाँच विषयों के निरूपण को पाँचरात्र कहा जाता है। इसी को भागवत धर्म भी कहते हैं। महाभारत के नारायणीय आख्यान में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। पाँचरात्र मत ब्रह्म और जीव की एकता का प्रतिपादन करता है। पाशुपत मत का संस्थापन नकुलीष ने किया था। इन्हें श्रीशंकर के 18 अवतारों में से आद्य अवतार माना जाता है। पाशुपत मत के अनुसार कार्य, कारण, योग, विधि, दुखान्त–ये पाँच पदार्थ हैं। ये अत्यन्त प्राचीन पदार्थ हैं। शक्ति मत की भी पूजा-पद्धति भिन्न थी। इन्होंने मद्य और मांस को पूजा का आवश्यक अंग बताया है। इसके तीन केन्द्र थे – केरल, कश्मीर और कामाख्या। गणपति के उपासक वैदिक काल से भी प्राचीन माने जाते हैं। उच्छिष्ट गणपति की उपासना मद्य-मांस से होती थी। इसमें भी तामसिक तन्त्रों का प्रयोग होता था।

देश में एक तरफ शून्यवाद, दूसरी तरफ अनेकान्तवाद, तीसरी तरफ तान्त्रिक उपासना वैदिक धर्म को लुप्त कर रही थी। इससे देश बिखरता जा रहा था, टूटता जा रहा था और उसमें धीरे-धीरे अव्यवस्था फैलती जा रही थी। धर्म प्रधान देश में अधर्म बढ़ता जा रहा था। देश की स्थिति इस दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। वैदिक धर्म अवैदिकता के पंक में धंसता जा रहा था। चारों ओर

अकर्मण्यता फैल रही थी ।

संक्षेप में उस समय के धार्मिक मत-मतान्तरों को दो प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है—एक तो वे जो पुरानी परम्पराओं को समाप्त करने वाले बौद्ध आदि अवैदिक मत और दूसरे इन मतों की प्रतिक्रिया स्वरूप अर्थात् वैदिक धर्म की रक्षार्थ उत्पन्न मत—किन्तु राष्ट्र के सच्चे हितैषियों को दोनों से ही कष्ट मिल रहा था । पहली प्रकार के मतों की राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियों से जहाँ राष्ट्र हितैषियों को बड़ा कष्ट हो रहा था वहाँ दूसरे प्रकार के मत वालों की राष्ट्र के प्रति निष्ठा होते हुए भी परिस्थितियों के अनुकूल कार्य न कर सकने की प्रवृत्ति के दुष्परिणामों से भी उन्हें चिन्ता हो रही थी । क्योंकि पहली प्रकार के मत वालों की तो बात ही क्या? दूसरे प्रकार के मत वाले भी एक हज़ार वर्षों से समाज पर पड़ने वाले कुसंस्कारों का निराकरण किए बिना ही प्राचीन युग को पुनः लौटा लाने के निरर्थक प्रयत्नों में संलग्न थे । वे लोग ऐसा कुछ करना चाह रहे थे जो असम्भव था । फिर भी पहले मत वालों की अपेक्षा दूसरों को उचित मार्गदर्शन द्वारा संगठित करके राष्ट्रहित में लगाना सहज था ।

शंकराचार्य जी ने किया भी यही । उन्होंने योग्य वैद्य की भाँति रोग का सही निदान करके उचित औषधि द्वारा देश, धर्म और समाज का सही उपचार किया । उन्होंने धर्म के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात किया । उनकी विद्वता, तार्किक प्रतिभा और बुद्धि कौशल के आगे बौद्ध, शाक्त, तान्त्रिक आदि पानी भरने लगे । फलस्वरूप वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा, वेदों के प्रति श्रद्धा, ज्ञान के प्रति आदर की भावना चारों ओर फैलने लगी । उन्होंने समस्त भारतीयों को आध्यात्मिक सूत्र में बाँधकर उन्हें संगठित करके उनमें एकता, दृढ़ता और समन्वयात्मक सब में समन्वय स्थापित किया । बौद्धों की संघ व्यवस्था, उनके साधुओं द्वारा प्रचार-कार्य और विरक्तों के एकत्रीकरण से प्रभावित होकर उसे अपनाकर आम्नाय मठों की स्थापना की, साधुओं के निरन्तर धर्म-प्रसार में संलग्न रहने की व्यवस्था की और विरक्तों द्वारा धार्मिक कार्यों के निष्पादन की परम्परा का निर्माण किया ।

यद्यपि देश-भर में यत्र-तत्र संस्कृत भाषा में रचनाएँ की तो जा रही थीं फिर भी संस्कृत काव्य परम्परा अपनी वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। बौद्ध और जैनमत वालों ने अपने मतों के प्रचार के लिए संस्कृत के स्थान पर पाली और प्राकृत जैसी जन-भाषाओं को माध्यम के रूप में प्रश्रय दिया था। जैन मुनियों ने अपभ्रंश को भी अपना लिया था। कहने का भाव यह है कि संस्कृत में साहित्य तुलनात्मक रूप में कम मात्रा में लिखा जाने लगा था। इसके स्थान पर पाली, प्राकृत और अपभ्रंश का बोलबाला होता जा रहा था। उस समय की जन भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य से समाज का अधिक सामंजस्य बैठता जा रहा था।

समग्रता आदिशंकराचार्य के समय देश, धर्म और समाज की दशा पतन की ओर जा रही थी। देश में अनेक मत-मतान्तर फैले हुए थे जो अपनी-अपनी ढफली पर अपने-अपने राग अलाप रहे थे। जैन, बौद्ध, शाक्त आदि सम्प्रदायों की सोच में एकरूपता का अभाव था। गाणपत्यों और आदित्य उपासकों के राग भी अलग-अलग ध्वनि निकाल रहे थे। सभी के सोचने का ढंग अलग-अलग था। उनमें पूजा-पद्धति, नियम, संयम और कर्म किसी भी दृष्टि से एकता नहीं थी। ये सभी पृथकतावादी विचारों से ओत-प्रोत थे। उनके सामने राष्ट्र की एकता और अखण्डता का कोई महत्त्व नहीं था। वे तो केवल अपने अस्तित्व की चिन्ता में लीन थे। अतः उस समय देश में सांस्कृतिक दृष्टि से एकता लाना अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि बिना सांस्कृतिक एक्य के राजनीतिक एकता भी टिकाऊ नहीं हो सकती थी।

व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र–सभी का जीवन कुछ निश्चित् संस्कारों पर आधारित होता है। आदि शंकराचार्य जी के जन्म के समय विभिन्न प्रकार के विवादों के कारण हमारे यहाँ से वे संस्कार नष्ट हो चुके थे। संस्कार विहीन समाज हो या संस्कृति आगे नहीं बढ़

सकती। हमारे राष्ट्र जीवन की भागीरथी का प्रवाह पथ से हटकर इधर-उधर भटक रहा था। उस समय देश, धर्म, और समाज में उचित संस्कार जगाकर, उन्हें व्यावहारिकता का जामा पहनाकर, उन्हें सुदृढ़ता से खड़ा कर सकने वाले व्यक्तित्व की आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति आचार्य शंकर ही कर सकते थे क्योंकि उनकी वाणी में ओज था, वक्तव्य में तथ्य था, व्यक्तित्व में प्रचण्डता थी, तर्कों में सूक्ष्मता थी और दृष्टिकोण समन्वयवादी था। भारत का पूरा इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहाँ सदा से ही उसी व्यक्ति या कार्य को सफलता मिली है जिसका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा हो।

उस समय आदि शंकराचार्य जी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने तत्कालीन स्थितियों का अध्ययन किया और एक चतुर तत्त्ववेत्ता की भाँति उनके कारणों की मीसांसा करके विषय का विवेचन किया एवं रोग का निदान करके उसकी समुचित चिकित्सा की योजना बनाई। योजनाबद्ध ढंग से कार्य सम्पन्न करने से ही वे इतने विशाल देश में अपने 32 वर्ष के लघु जीवन में ही वैदिक धर्म का उद्धार करके देश, धर्म और समाज को हर दृष्टि से सम्पन्न बनाकर एक ऐसे अखण्ड राष्ट्र का निर्माण करने में समर्थ हो सके जो उनके निधन हो जाने के पश्चात् ही सदियों तक एकता के सुदृढ़ सूत्र में बँधा हुआ चलता रहा।

(2)

जन्म

आचार्य शंकर हमारे देश के महान् पुरुषों में से थे। इसे मात्र संयोग ही कहा जाएगा कि हमारे यहाँ अधिकतर महान् पुरुषों के जन्म से पूर्व की घटना एक ही जैसी है। श्री राम, श्री कृष्ण, गौतम, महावीर, शंकर आदि की माताओं को यथा – कौशल्या, देवकी, गौतमी, अंजना, आर्यम्बा आदि को पुत्र-प्राप्ति से पूर्व स्वप्न में किसी महात्मा के

दर्शन हुए हैं और उन्हीं के आशीर्वाद से इन सभी ने ऐसे महान् पुत्रों को जन्म दिया जिनके नाम, धाम और काम युगों-युगों तक अमर रहेंगे ।

व्यक्तित्व

आदि शंकराचार्य जी का उल्लेख होते ही उनके द्वारा स्थापित भारत की एकता, अखण्डता, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, कर्म, ब्रह्मविद्या, मोक्ष, ज्ञान, बुद्धि, आदि सभी के आदर्श के एक नहीं अनेक चित्र उपस्थित हो जाते हैं । आप केवल आदर्शवादी ही नहीं थे, यथार्थवादी भी पूरे थे । आपका जीवन ज्ञान और कर्म का समन्वय था । आप उच्च कोटि के लोक-संग्रही थे । ज्ञान की महिमा के प्रतिपादक होते हुए भी आप उपासना के परम पुजारी थे । आपने यह सिद्ध करके दिखा दिया था कि अद्वैत-वेदान्त एक व्यावहारिक धर्म भी है जिस पर सभी आस्था रख सकते हैं । विभिन्न अवैदिक परम्पराओं से ग्रसित, अनेक मत-मतान्तरों के दूषित प्रचार से दिग्भ्रमित और धर्म के वास्तविक रूप से विस्मृत हुए इस देश में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था, वैदिक दर्शन की प्रतिष्ठा, वेदों के प्रति निष्ठा, ज्ञान के प्रति आदर, आध्यात्मिक आधार पर एकता स्थापित करने का श्रेय शंकराचार्य जी को ही जाता है ।

आप अत्यन्त की व्यवहार कुशल, सूक्ष्मदर्शी, प्रकाण्ड पंडित, श्रेष्ठ कवि, और असाधारण तार्किक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के स्वामी थे । आप में जटिल से जटिल समस्या को सरल से सरल भाषा में सुन्दर से सुन्दर ढंग में और मधुर से मधुर वाणी में विद्वान् से विद्वान् और अनपढ़ से अनपढ़ व्यक्ति के सामने आकर्षक और हृदय ग्राही रूप में प्रस्तुत करने की अद्‌भुत क्षमता थी । गुरु के प्रति आदर, माता के प्रति स्नेह, ज्ञानियों के प्रति श्रद्धा, शिष्यों के प्रति वात्सल्य भक्तों के प्रति दया, विरोधियों के प्रति क्षमा, मूर्खों के प्रति सहानुभूति और निर्धनों के प्रति ममता आपके चरित्र की विशेषताएँ थीं ।

पारिवारिक पृष्ठभूमि

आदिशंकराचार्य जी के जन्म सम्वत् के समान ही जीवन की विभिन्न घटनाओं के वर्णन भी भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखे गए हैं । उनके जन्म सम्वत और जीवन चरित्र के

सम्बन्ध में उपलब्ध विविधता पूर्ण सामग्री को तर्क की कसौटी पर कसने के बाद माना गया है कि उनका जन्म आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व अर्थात् 509 ई०पू० में केरल राज्य के एरणाकुलम जिले में अंगमाली रेलवे स्टेशन से 5 मील दूर पूर्णा नदी के तट पर स्थित कालटी नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम आर्यम्बा था। पाठान्तर से माता के कुछ अन्य नाम भी मिलते हैं। यथा–सुभद्रा, विशिष्ठा, आदि। आर्यम्बा मघ पण्डित की सुपुत्री थी। आचार्य जी के पूर्वज श्रोत्रिय ब्राह्मण थे जो पौरोहित्य द्वारा जीविका चलाते थे। इनके पूर्व पुरुष कर्नाटक में रहते थे। कर्नाटक में सूखा पड़ने पर जीविका-निर्वाह के लिए ये लोग केरल में आकर बस गए थे। केरल में ये लोग कैवर्त (केवट) का कार्य करने लगे। केरल में कैवर्त को (केवट-मल्लाह) नम्बूदरी कहते थे। नम्बूदरी का अर्थ 'पार लगाने वाला' है। इसीलिए इन ब्राह्मणों को नम्बूदरीपाद कहा जाता है।

शिवगुरु बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। आर्यम्बा भी पति के समान ही विदुषी और धर्मपरायणा थीं। विवाह के काफी समय बाद भी जब इनके कोई सन्तान नहीं हुई तब दम्पत्ति को चिन्ता लग गई। शिवगुरु तो अपना जन्म ही व्यर्थ समझने लगे। उनके विचार में पुत्र-पौत्र की परम्परा से ही संसार में पुरुष की प्रसिद्धि होती है। पुत्रहीन को कोई नहीं पूछता। पति को चिन्तित देखकर आर्यम्बा ने सुझाव दिया कि की श्री शंकर, भक्त के मनोरथ को पूर्ण करने में साक्षात कल्पवृक्ष हैं। क्यों न हम लोग अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए उन्हीं का भजन करें? पति-पत्नी दोनों ही पुत्र की कामना से आदि शंकर की आराधना में जुट गए। आराधना में लीन हो जाने पर इन्हें अपने तन, बदन की चिन्ता भी नहीं रही थी। अचानक ही एक रात को इन्हें एक स्वप्न दिखाई दिया जिसमें भी शंकर ने इनसे अल्पायु किन्तु सर्वगुण सम्पन्न या दीर्घायु किन्तु अल्प गुण युक्त में से जैसा भी चाहे

पुत्र प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करने को कहा। इन्होंने बहुगुण सम्पन्न, प्रतिभाशाली और सर्वज्ञ पुत्र की कामना की। श्री शंकर ने 'ऐसा ही होगा' कहकर आशीर्वाद दिया।

(3)

शिक्षा व संन्यासी बनने के लिए गृहत्याग

शिव के आशीर्वाद से शुभ मुहूर्त में माँ आर्यम्बा ने दिव्यगुण सम्पन्न बालक को जन्म दिया। शंकर के आशीर्वाद से जन्मे बालक का नाम भी शंकर ही रखा गया। शंकर बाल्यावस्था से ही अत्यन्त शान्तवृत्ति, गम्भीर प्रवृत्ति और तीव्र निवृत्ति-मेधा सम्पन्न बालक थे। उनकी दिव्यता का प्रमाण बचपन से ही मिलने लगा था। एक वर्ष की अवस्था होते-होते शंकर ने अक्षर ज्ञान कर लिया और अपनी मातृभाषा में अपने भाव प्रकट करने आरम्भ कर दिए। दो वर्ष की अवस्था होने तक वे माता द्वारा सुनाई गई पौराणिक गाथाएँ याद करने में समर्थ हो गये थे। घर के वातावरण के कारण संस्कृत भाषा भी बोलने लगे थे।

तीन वर्ष की अवस्था में चूड़ाकर्म संस्कार हुआ। शंकर तीन वर्ष के ही थे कि पिता का निधन हो गया। (कहीं-कहीं पिता की मृत्यु इनकी 5 वर्ष की अवस्था में होने का उल्लेख मिलता है) चार वर्ष की आयु में शंकर ने काव्य और नाटक आदि में भी योग्यता प्राप्त कर ली। पाँचवें वर्ष में इनका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न करके इन्हें निकटवर्ती गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए भेजा गया। 7 वर्ष की आयु तक बालक शंकर वेदान्त और वेदांगादि का अध्ययन करके घर वापिस आ गए। सभी सहपाठी ही नहीं स्वयं गुरु जी भी इनकी विलक्षण योग्यता से चकित थे।

कालड़ी आकर ये बड़े-बड़े विद्वानों को शास्त्र पढ़ाने में लग गए। 8 वर्ष की आयु में प्राणीमात्र के कल्याण की कामना से प्रेरित

होकर शंकर ने संन्यास की दीक्षा लेनी चाही । परन्तु माँ इससे सहमत नहीं थी । वे अपने एक मात्र पुत्र को इसके लिए आज्ञा देने को तैयार नहीं थीं और दूसरी ओर शंकर भी अपनी ममतामयी माँ के मन को दुःखी करके संन्यास नहीं लेना चाहते थे । माता का कहना था कि तुम मेरी इकलौती सन्तान हो, तुम्हारे बिना मैं कैसे जिऊंगी ? मेरे निधन के पश्चात् श्राद्धादिक संस्कार कौन करेगा ? शंकर भी जानते थे कि माता उनके मन की बात नहीं समझ रही है किन्तु वे उनके लिए पूज्य थीं, अतः उन्होंने उचित अवसर की प्रतीक्षा की ।

एक दिन वे अपनी माँ के साथ नदी में स्नान करने गए । स्नान करते समय उन्हें एक मगरमच्छ ने पकड़ लिया । यह देखकर माँ को बड़ा दुःख हुआ । वे चीत्कार कर उठीं लेकिन कर कुछ भी न पा रही थीं । तभी शंकर ने अपनी माता से कहा कि यदि वे उन्हें संन्यास लेने की अनुमति दे दें तो यह मगरमच्छ उन्हें छोड़ देगा । मृतक पुत्र से जीवित संन्यासी ही सही—पुत्र के दर्शन तो हो सकेंगे, यही सोच कर माँ ने संन्यास ग्रहण की अनुमति दे दी । इस घटना के कुछ दिन पश्चात् शंकर ने अपनी माता को अपने जीवन-लक्ष्य का परिचय देते हुए उनसे गृहत्याग की अनुमति मांगी । उन्होंने यह कहते हुए सहर्ष अनुमति दे दी कि जाओ पुत्र खूब ख्याति अर्जित करो । माँ की मृत्यु के समय उपस्थित होकर सेवा करने का वचन देकर हाथ जोड़कर माँ को अपने पड़ोसियों और सम्बन्धियों को सौंप कर ८ वर्ष की आयु में शंकर ने संन्यास की दीक्षा लेने के लिए गृहत्याग दिया । उनके अनुसार—

इस संन्यास में अलगाव नहीं, अपनाव था, विरक्ति नहीं प्रेम था । इसमें संकुचितता नहीं विशालता थी, दुर्बलता नहीं शक्ति थी, इसमें व्यक्ति के लिए समाज का त्याग नहीं, समाज के लिए व्यक्ति का राग था ।

(4)

गुरु प्राप्ति और ब्रह्मतत्त्व का उपदेश

शंकर गुरु की खोज में निकल पड़े। चारों और घूमे अन्त में नर्मदा के तट पर अमरकण्टक में उन्हें एक गुफा में वर्षों से तपस्यारत योगी गोबिन्द भगवत्पाद के दर्शन हुए। शंकर ने गुफा की तीन बार परिक्रमा करके गोबिन्द भगवत्पाद की भाव-विभोर होकर स्तुति की। भाग्यवश गोबिन्द भगवत्पाद उसी समय समाधि से उठ गए। बाल संन्यासी शंकर को देखकर वे उनकी ओर एकदम आकर्षित हो गए। उन्होंने शंकर से पूछा – तुम कौन हो? गोबिन्द भगवत्पाद से शंकर बोले–

हे स्वामिन! मैं न पृथ्वी हूँ, न तेज हूँ, न आकाश हूँ और न उनके गुण हूँ तथा न मैं इन्द्रियां हूँ, प्रत्युत इनसे अवशिष्ट जो केवल परमतत्त्व शिव है, वही हूँ।

(माधवकृत शंकर दिग्विजय, सर्ग 5, श्लोक 99)

शंकर के इन अद्वितीय वचनों को सुनकर गोबिन्द भगवत्-पादाचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने शंकर को बड़े प्यार से अपने निकट बुलाया। शंकर ने गुरु के चरणों की विधिवत् पूजा की। यतियों में श्रेष्ठ गोबिन्द भगवत्पादाचार्य ने उन्हें उपदेश देकर संन्यास-दीक्षा दी और इनका नाम ''भगवत्पाद शंकर'' रखा। एक अद्वितीय गुरु को एक अनुपम शिष्य मिला। सत्य को समझने की अपेक्षा उसकी अनुभूति करना अधिक श्रेयस्कर है। अतः गोबिन्द भगवत्पाद ने शंकर को सत्य की अनुभूति कराई। इस अनुभूति से शंकर को महान् शक्ति मिली। उन्हें सम्पूर्ण सृष्टि में ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगा। गुरु ने शंकर को समस्त शास्त्र आदि बड़े मनोयोग से पढ़ाए, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि शंकर धर्म का उद्धार करेगा। शंकर को पढ़ाते समय वे सूत्रों का अर्थ इतनी तन्मयता से करते थे कि मालूम होता था कि वे

शंकर के सामने अपनी आत्मा निकाल कर रख देना चाहते थे ।

गोबिन्द भगवत्पादाचार्य जी ने उपनिषद् के निम्न चार वाक्यों द्वारा ब्रह्म तत्त्व का उपदेश शंकर को दिया–

1. तत्त्वमसि – आत्मा और ब्रह्म की स्वभाव सिद्ध एकता है ।
(छांदोग्योपनिषद्) (सामवेद)

2. 'प्रज्ञान ब्रह्म' – ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है ।
(ऐतरेयोपनिषद्) (ऋग्वेद)

3. 'अहम् ब्रह्मास्मि' – तत् (ब्रह्म) और त्वं (जीव) पदों के अर्थ का यथार्थ ज्ञान करने से मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव ब्रह्म हूँ । (बृहदारण्यकोपनिषद्) (यजुर्वेद)

4. 'अयमात्मा ब्रह्म' – परोक्ष रूप से बतलाया गया ब्रह्म ही प्रत्यक्ष रूप से आत्मा है । (मांडुक्योपनिषद) (अथर्ववेद)

(5)

परमगुरु के दर्शन और ब्रदीनाथ मंदिर निर्माण

शंकर ने गुरुपदिष्ट मार्ग का अवलम्बन करके अल्पकाल में ही समस्त योग सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं । इस बीच एक बार गोविन्द भगवत्पादाचार्य बद्रिकाधाम गए हुए थे और आश्रम की देख-रेख शंकर के अधीन थी, तब वर्षाकाल में नर्मदा में भयंकर बाढ़ आ गई, चारों ओर विनाश का तांडव नृत्य होने लगा । उसे देखकर उन्होंने नर्मदाष्टक रचकर नर्मदा की स्तुति करके उसका क्रोध शान्त किया । बद्रिकाश्रम से लौटने पर शंकर के इस कार्य का ज्ञान होने पर गुरु ने शंकर की योग्यता, लगन और बुद्धि चातुर्थ से प्रसन्न होकर धर्म-कार्य निमित्त देश-भ्रमण की आज्ञा देनी चाही लेकिन इससे पूर्व उन्होंने अपने गुरु गोड़पादाचार्य से भी शंकर को मिलाना उचित समझा । शंकर को

परमगुरु के दर्शनों के सौभाग्य की सूचना बड़ी आह्लादकारी लगी। बद्रीकाश्रम में गोड़पादाचार्य ब्रह्मनिष्ठा में लीन थे। शंकर का परिचय पाकर उन्हें विश्वास हो गया कि वह अवश्य ही वैदिक धर्म का उद्धार करेगा। शंकर में उन्हें भी अलौकिक प्रतिभा और असाधारण बुद्धि कौशल दीखा लेकिन वे यह भी चाहते थे कि शंकर जब महान् कार्य के निमित्त निकले तो पूर्ण होकर ही निकले। अतः उन्होंने गोबिन्द भगवत्पाद से शंकर को उनके पास छोड़ देने को ही कहा।

विभिन्न भाष्यों की रचना का कार्य पूर्ण करने के पश्चात् शंकर ने देश भ्रमणार्थ परम गुरु की आज्ञा प्राप्त कर ली। हाथ में दण्ड, कमण्डल लेकर जैसे ही अपनी धर्म यात्रा आरम्भ करने वाले थे कि उन्हें अपनी माता की बीमारी की जानकारी मिली। (अनेक रचनाओं में माता की बीमारी की सूचना दक्षिण-यात्रा के दौरान मिली थी) माता ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति भी इनके नाम कर दी थी। सम्पत्ति का साधु क्या करे ? यह बड़ी विकट समस्या थी। उन्होंने इस धन का सदुपयोग करने की दृष्टि से बद्रीनाथ में उस धन से एक मन्दिर बनवाने का निश्चय किया। इस कार्य की सम्पूर्ण व्यवस्था करके वे कालटी को चल दिए।

(6)

मातृसेवा और गुरुविछोह

घर पर पहुँचकर देखा कि माता सम्भवतः इनको देखने के लिए ही जीवित थीं। इन्होंने माता की खूब सेवा-सुश्रुषा की। माता की आज्ञा पर ही उन्हें अद्वैत की बातें बड़े ही सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया। उनके लिए 'तत्त्वबोध' नामक एक ग्रन्थ भी रचा। परन्तु माता ने कहा–

ये ऊँची बातें मुझ जैसी सामान्य बुद्धि वाली कैसे समझेगी? मुझे तो

कुछ श्रीकृष्ण के विषय में ही बता ।

शंकर ने कृष्णाष्टक रचकर माँ को सुनाया । कहते हैं कि कृष्णाष्टक सुनते-सुनते ही माँ की आत्मा कृष्णमय हो गईं । अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संन्यासी होते हुए भी उन्होंने माँ का अन्तिम संस्कार किया । इस पर सभी सम्बन्धी नाराज हो गए और किसी ने भी उन्हें कोई सहयोग नहीं दिया । शंकर ने अपने ही घर में अकेले सभी कार्य सम्पन्न करके अपनी जन्मभूमि को सदा के लिए नमस्कार कर दिया ।

जैसे ही वे वहाँ से चलने लगे कि सदानन्द नामक व्यक्ति से यह जानकारी मिली कि उनके गुरु गोबिन्द भगवत्पादाचार्य रुग्ण शैय्या पर पड़े हैं और वे उनसे मिलना चाहते हैं । शंकर तुरन्त ही अमरकण्टक की ओर चल पड़े । वहाँ पहुँचने पर उन्होंने पाया कि गुरु अचेतनावस्था में पड़े हैं । लेकिन जैसे ही शंकर वहाँ पहुँचे उन्हें चेत आ गया और उन्होंने शंकर को काशी जाकर वहाँ से दिग्विजय यात्रा आरम्भ करने का आदेश और आशीर्वाद दिया । शंकर को संसार से पूर्ण विरक्ति होते हुए भी माँ और गुरु से थोड़ा मोह था । ईश्वर ने जीवन लक्ष्य के पथ पर अग्रसर होने से पूर्व ही इन दोनों बन्धनों से भी उन्हें मुक्त कर दिया ।

(7)

काशी में निवास और चाण्डाल से भेंट

एक मास की यात्रा के बाद वे शिष्यों सहित काशी पहुँचे । वहाँ वे मणिकर्णिका घाट पर रहने लगे । उन्होंने वहाँ सर्वप्रथम अन्नपूर्णा देवी के दर्शन करके जो अनोखी भिक्षा मांगी वह इस प्रकार थी–

ज्ञान वैराग्य सिद्धयूर्थम् भिक्षाम् देहि ।

एक बालक संन्यासी को ऐसी भिक्षा मांगते देखकर उपस्थित भक्तगण चकित रह गए । उनकी शंकर के सम्बन्ध में अधिक- अधिक

तथा और अधिक जानने की जिज्ञासा तेज हो गई। लोग उनकी बातें सुनने को आतुर हो गए। दूर-दूर से लोग उनकी ज्ञान-चर्चा सुनने को तथा उनके दर्शनों को आने लगे। उनकी योग्यता, विद्वता और वेदान्त-ज्ञान की चर्चा सभी जगह होने लगी। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि बढ़ती चली गई। वे काशी के एक महत्वपूर्ण व्यक्ति बन गए। अनेक लोग उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए आने लगे। काशी में चोल-प्रदेश के माधव नाम ब्राह्मण के वैराग्यशील पुत्र विष्णु शर्मा को पहला शिष्य बनाया। इनका नाम श्री सनन्दन रखा। बाद में वे ही पद्मपाद के नाम से विख्यात हुए। शंकराचार्य जी ने काशी में अनेक स्तोत्रों की रचना की।

एक दिन जब श्री शंकर गंगातट की ओर जा रहे थे। उस समय उनको सामने से एक चांडाल आता दिखाई दिया जिसके साथ चार कुत्ते थे जो शराब के नशे में झूमता-झूमता चला आ रहा था। उससे स्पर्श हो जाने की आशंका से श्री शंकर ने कहा–

रास्ते के एक तरफ होकर चलो और मेरे जाने के लिए स्थान छोड़ दो।

चांडाल ने उनकी बातों की ओर ध्यान नहीं दिया और चलते-चलते कहने लगा–

''कौन किसको स्पर्श करता है? सर्वत्र एक ही वस्तु है उसके अतिरिक्त और क्या? किसके स्पर्श से भयभीत होकर तुम बच कर चल रहे हो? आत्मा तो किसी को स्पर्श नहीं करती। जो आत्मा तुम में है वह मेरे भीतर भी है। फिर तुम किससे दूर जाने को कह रहे हो? मेरी देह को या मेरी आत्मा को?''

इन शब्दों को सुनते ही श्री शंकर का ब्रह्मज्ञान सच्चे व्यावहारिक स्तर पर पहुँच गया और उन्होंने मन ही मन उस चांडाल को एक गुरु समझ कर प्रणाम किया।

(8)

महर्षिव्यास के दर्शन और दिग्विजय का श्रीगणेश

शंकर के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की प्रशंसा सभी ओर हो रही थी। बड़े-बड़े विद्वान् भाष्य की भाषा और अभिव्यक्ति की सरलता पर मुग्ध थे। एक दिन एक ब्राह्मण ने गंगा किनारे शंकर से एक सूत्र का अर्थ पूछा। उस सूत्र पर उस ब्राह्मण के साथ शंकर का 8 दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। 8वें दिन पद्यपादाचार्य ने उस विलक्षण ब्राह्मण को पहचाना कि वे तो स्वयं वेदव्यास जी हैं। पहचान हो जाने पर शंकर ने बड़ा खेद प्रकट किया। महर्षि व्यास ने प्रसन्न होकर शंकर की 16 वर्ष की आयु को बढ़ाकर 32 वर्ष कर दी और अद्वैत सिद्धान्त-प्रचार का आदेश दिया। उन्होंने शंकर को यह भी सुझाव दिया कि वे आचार्य कुमारिल भट्ट को अपना भाष्य दिखाकर उनकी सम्मति ले लें। इससे इस भाष्य का देश भर में प्रचार हो सकेगा। काशी में रहते हुए शंकर ने वहाँ के प्रायः सभी विरोधी मत वालों को परास्त कर दिया था।

काशी में वे चोटी के पंडितों में गिने जाने लगे थे। विद्वान् लोग उनकी संगति का लाभ उठाने को उत्सुक रहने लगे थे, भक्तगण उनका उपदेश सुनने को व्याकुल रहने लगे थे और शिष्यगण उन्हें अपनाने में अपना गौरव समझने लगे थे। काशी नरेश भी उनके शिष्य हो गए थे। अब उनके पास ध्येय और नेता पर श्रद्धा, भक्ति और विश्वास रखने वाले शिष्यों की एक विशाल मंडली तैयार हो चुकी थी। स्थान-स्थान पर अपने शिष्यों को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में वे एक ही विचारधारा उत्पन्न करने की स्थिति में आ गए थे। अतः उन्होंने अपनी दिग्विजय का कार्यक्रम शिष्यों के सम्मुख रखा। इससे सभी को प्रसन्नता हुई। दिग्विजय की कूच के समय काशी नरेश उनके साथ थे। ज्ञान के साथ

शक्ति का भी योग हो गया – ब्रह्म शक्ति के साथ क्षात्र धर्म भी मिल गया – दोनों के सहयोग में ही समाज का कल्याण निहित है ।

(9)

कुमारिल भट्ट के साक्षात्कार

काशी से आदिशंकराचार्य जी प्रयाग पहुँचे । यहाँ ज्ञात हुआ कि कुमारिल भट्ट अपने शरीर को भस्म करने के लिए उद्यत है । अतः शंकराचार्य तुरन्त ही उनसे मिलने को चल दिए । कुमारिल भट्ट पूर्व मीसांसा के उद्भट् विद्वान थे । उनके पास विद्या और बुद्धि के साथ-साथ राष्ट्र प्रेमी का हृदय भी था । उन्होंने नास्तिकों के अनाचार का डटकर विरोध किया था । बौद्धों के तर्कों के उत्तर देने की दृष्टि से बौद्ध मत का गहन अध्ययन आवश्यक था । अतः उन्होंने बौद्ध भिक्षु बनकर सम्भतः धर्मपाल के यहाँ अध्ययन किया था । यहीं बौद्धों की छिपी हुई भावनाओं और अराष्ट्रीय वृत्तियों का उन्हें ज्ञान हुआ था । एक बार चर्चा के दौरान बौद्धों को उनके वेदान्ती होने का सन्देह हो जाने पर उनको मार देने का प्रयास किया गया । इस प्रयास में उनकी एक आँख तो चली गई किन्तु वे बच गए ।

उसके बाद वे बौद्ध मत के कट्टर विरोधी बन गए । उन्होंने सम्पूर्ण देश में बौद्धमत का खण्डन किया । इसके लिए उन्हें चमत्कार आदि के हथकंडे भी अपनाने पड़े थे । सत्य की प्रतिष्ठापना के लिए उन्हें असत्य का आश्रय लेना पड़ा । यह उन्हें कष्टकर लगा । भस्म होने से पूर्व ही शंकर ने उनके दर्शन करके अपना भाष्य दिखा दिया । भाष्य को देखकर कुमारिल अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्होंने शंकराचार्य जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की । उन्होंने शंकर से कहा कि यदि आप वेदान्तमार्ग

को प्रशस्त करना चाहते हों तो विद्वानों में श्रेष्ठ, दिगन्तों में कीर्तिशाली, वैदिक कार्य में तत्पर, प्रवृत्ति मार्ग से निरत, अत्यन्त कर्मठ और महान् गृहस्थ मंडन मिश्र को जीतिए। उन्हें शिष्य बनाकर अपना कार्य सहज कीजिए। मंडन मिश्र कुमारिल भट्ट के शिष्य थे।

(10)

मंडन मिश्र से मिलन एवं शास्त्रार्थ

कुमारिल भट्ट की आज्ञानुसार शंकर, मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने के लिए महिष्मति को चल पड़े। महिष्मति नगर में पहुँच कर शंकर नदी के तट पर डेरा लगा कर नगर में मंडन मिश्र का पता पूछने पर शंकर को उत्तर मिला–

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं, कौ कीरंगाना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थ नीडान्तर सन्निरुद्धा, जानीहि तन्मंडन मिश्र-शाम।।
फलप्रद कर्म, फलप्रदोऽषः कीरांगना यत्र गिरो-गिरन्ति।
द्वारस्थ नीडान्तर सन्निरुद्धा जानीहि तन्मंडल मिश्र-धाम।।
जगद् ध्रुवं स्यात्, जगद् स्यात् कीरंगाना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थ नीडान्तर सन्निरुद्धा जानीहि तन्मंडन मिश्र-धाम।।

यह जानकर शंकर को बड़ा आश्चर्य हुआ। मंडन मिश्र जी की योग्यता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता था कि द्वार पर तोता और मैना भी संस्कृत में चर्चा करती हैं और वह भी इस विषय पर कि वेद स्वतः प्रमाण है अथवा उन्हें प्रमाणों की क्या आवश्यकता है? कर्म फल देने वाले हैं अथवा फलों के दोष क्या हैं? संसार नित्य है अथवा वह अनित्य है।

शंकर मंडन मिश्र के घर पहुँच गए। लेकिन उनके घर के सभी द्वार बंद थे। क्योंकि मंडल मिश्र घोर कर्मकाण्डी थे और वे अपने पिता श्री का श्राद्ध कर रहे थे। कहा जाता है कि शंकर योग बल से भीतर आँगन में पहुँचकर मंडन मिश्र के सम्मुख बैठ गए। कर्मकाण्ड के अनुसार श्राद्ध में साधु की उपस्थिति अनुचित मानी जाती है। अतः उन्हें देखकर दिग्गज कर्मकाण्डी मण्डन मिश्र क्रोधित हो गए। क्रोध में भरकर अपमानजनक शब्दों में वे शंकर से बोले 'कुतो मुंडी?' – हे मुंडी, कहाँ से? आचार्य शंकर ने मिश्रप्रवर के प्रश्न को हंसी में उड़ाते हुए उत्तर दिया 'गलदेशात' – गलदेश से मुंडित हुआ हूँ। मिश्र ने क्रुद्ध होकर पुनः पूछा– 'पन्थास्ते पृच्छते मया' – मैंने आपके पथ के विषय में पूछा है। शंकराचार्य ने उसी प्रकार उत्तर दिया–'क्या पथ ने आपसे कुछ पूछा है?'

मंडन मिश्र और भी उत्तेजित हुए– तुम्हारा सिर और मुंड– ''वैसा ही है' –शंकराचार्य ने फिर परिहास किया। इस पर मंडन मिश्र आग-बबूला हो उठे– 'किमु सुरा पीता' – क्या तुमने शराब पी ली है? 'सुरा किमु पीता? – क्या शराब पी ली है? – आचार्य ने हँसते हुए भी उत्तर दिया। अब तो मंडन मिश्र के क्रोध का ठिकाना न रहा। वे शिष्टता को ताक में रख प्रश्न करने लगे, परन्तु आदिशंकराचार्य हँसते हुए ही उत्तर देते रहे।

श्राद्ध में क्रोध अनुचित माना जाता है। अतः श्राद्ध के लिए आए ब्राह्मणों ने उन्हें क्रोध शान्त करने को कहा। इतने में ही श्राद्ध के लिए आए एक ब्राह्मण ने आचार्य शंकर को पहचान कर उठकर प्रणाम किया और मिश्र जी से बोला ''भगवान् का धन्यवाद करो, मिश्र आपके सम्मुख आचार्य शंकर खड़े हैं।'' आचार्य शंकर का नाम सुनकर मिश्र जी सकपका गए। ब्राह्मणों ने कहा कि इन्हें भिक्षा दो। भिक्षुओं को आदरपूर्वक भिक्षा देना गृहस्थों का परम धर्म है। शंकर ने कहा कि हम तो शास्त्रार्थ की भिक्षा मांगने आए हैं। मिश्र जी ने शास्त्रार्थ करना

स्वीकार किया। दोनों ने यह भी स्वीकार किया कि मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी 'उभय भारती' शास्त्रार्थ में मध्यस्थता करेंगी, जीतने वाले के मत को हारने वाले को मानना होगा, हारने वाले को जीतने वाले का शिष्यत्व ग्रहण करना होगा एवं संन्यासी को गृहस्थ और गृहस्थ को संन्यासी बनना होगा।

उभय भारती की मध्यस्थता में दो महान् पंडितों में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। उसने दोनों के गले में पुष्पों की एक-एक माला डाल दी और कहा कि जिसकी माला कुम्हला जाएगी उसे ही हारा हुआ माना जाएगा। शास्त्रार्थ में ब्रह्म और जीव की स्थिति, सम्बन्ध, भेद, अभेद आदि पर जमकर विचारमंथन हुआ।

शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र ने कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। वे लगाते भी क्यों न? 'कर्मेति मीमांसाः' मीमांसक लोग कर्म को ही श्रेष्ठ सत्ता मानते हैं। शंकराचार्य ने अकाट्य तर्क देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया। शंकराचार्य ने मुंडक-उपनिषद् को उद्धृत करते हुए कहा – 'परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् स ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्ति अकृतः कृतेन।' कर्म द्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा करके तथा उसका नश्वर फल देखकर वेदज्ञ ब्राह्मण को चाहिए कि वह उस पर वैराग्य उत्पन्न करें, क्योंकि अकृत (मोक्ष) 'कृत' (कर्म) द्वारा प्राप्य नहीं है। इस प्रमाण से तर्क की हीनता प्रतीत बताने वाला एक भी प्रमाण आप नहीं प्रदर्शित कर सकते। शंकराचार्य के इस तर्क से मंडन मिश्र हत-प्रभ हो गए। उन्हें इसका कोई उत्तर न सूझा। फलस्वरूप उनके गले की माला भी मलीन होने लगी। उभय भारती भी यह देखकर व्यथित हुई। उन्होंने शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हुए निर्णय दिया, 'मेरे पति परास्त हो गए हैं।' इस प्रकार 18 दिन चलने वाला यह शास्त्रार्थ निर्णीत अवस्था में पहुँचा। उपस्थित विद्वन्मंडली ने भारती देवी की निष्पक्षता की सराहना की और विचार व्यक्त किया कि जब मंडन मिश्र जैसे उद्भट विद्वान् अन्ततोगत्वा परास्त हो गए हैं, तब यह समझना चाहिए कि इसी यती को शास्त्र चर्चा में जीतना असम्भव है।

शास्त्रार्थ सुनने के लिए अनेक नर-नारी उपस्थित थे। 18 दिनों तक शास्त्रार्थ चलता रहा। पं० दीनदयाल जी उपाध्याय के अनुसार शास्त्रार्थ के दौरान यह भी चर्चा आई –

शंकर! आओ हम दोनों मिलकर राष्ट्र विरोधियों को समाप्त करें। सम्पूर्ण देश में वैदिक (हिन्दू) धर्म का प्रचार करके कुमारिल भट्ट के अधूरे कार्य को पूरा करें। इससे उनकी आत्मा को शांति मिलेगी।

मंडन मिश्र– ठीक है। वेद विरोधी धर्म का तो नाश होना ही चाहिए लेकिन जिस धर्म का आप प्रचार कर रहे हैं वह तो वैदिक धर्म नहीं है। घर-घर में जब हवन होंगे, चारों ओर वेदमंत्रों की स्वरलहरी गूंजेगी और उससे वायुमण्डल पवित्र होगा तभी वैदिक धर्म का प्रचार होगा। आपकी पंचायतन की पूजा में वेदान्त कहाँ है?

शंकर –हवन, यज्ञ आदि तो मन को शुद्ध करने के साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। हमारे लिए साधन नहीं साध्य अपेक्षित है।

मंडन – मिश्र यज्ञादि के बिना आर्य धर्म का उद्धार हो जाएगा?

शंकर –क्यों नहीं? साधन तो देशकाल के अनुसार बदला करते हैं। साधन बाह्य है। बाह्य बातों पर जोर देते रहने पर यदि आत्मा नष्ट हो गई तो कुछ भी नहीं बचेगा। वैदिक धर्म भी नष्ट हो जाएगा। पिछले 1000 वर्ष में वैदिक धर्म पर कितने आघात हुए, इसकी रक्षा के लिए कितने प्रयत्न हुए, क्या सब बेकार हो जाने दें? इस दीर्घ काल खण्ड में जिस धर्म का विकास हुआ है वह वैदिक धर्म ही है। इस अवधि में हम जिस आदर्श पर चले हैं वह वैदिक आदर्श ही है। हम भी आर्यों के वैदिक मार्ग का ही अनुसरण करेंगे।

मंडन मिश्र–आदर्श प्राप्त करने के लिए साधन भी चाहिए और उचित संस्कार भी। इनके बिना सफलता नहीं मिलेगी।

शंकर – हम साधन रूपी संस्कारों को नहीं छोड़ेंगे। हवन, यज्ञ आदि इसी रूप में बने रहेंगे। जीवन के सभी संस्कार विधिवत् हवन

द्वारा ही सम्पन्न होंगे किन्तु हम दुराग्रही नहीं है। यदि अन्य साधनों से भी उपयुक्त भावना का निर्माण हो सकता हो तो हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(11)

शंकर एवं उभय भारती शास्त्रार्थ

शास्त्रार्थ की शर्त के अनुसार मंडन मिश्र को शंकराचार्य जी का शिष्यत्व करके संन्यासी बनना था। पति संन्यासी बन जाए और पत्नी गृहस्थ का सुख भोगती रहे यह बात उभय भारती को उचित नहीं लग रही थी। वह इससे संतुष्ट भी नहीं थी। अतः उभय भारती ने शंकराचार्य जी से कहा कि मिश्र जी अभी पूरी तरह से पराजित नहीं हुए हैं। पूर्ण रूप से पराजित करने के लिए मुझे भी शास्त्रार्थ में हराना होगा क्योंकि मैं भी इनकी अर्द्धांगिनी हूँ। उभय भारती ने शंकराचार्य को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। आचार्य शंकर एक स्त्री से शास्त्रार्थ करने को तैयार नहीं थे। उभय भारती ने प्राचीन काल में याज्ञवल्क्यादि ऋषियों द्वारा गार्गी और सुलभा से किए गए शास्त्रार्थ का उदाहरण देते हुए शंकराचार्य जी को अपने साथ शास्त्रार्थ करने का प्रबल तर्क दिया। इस तर्क के आगे शंकर को भारती के साथ शास्त्रार्थ की अनुमति देनी पड़ी।

भारती का शंकर से शास्त्रार्थ कई दिनों तक चला। शास्त्रार्थ के दौरान भारती ने शंकर से धर्म, अर्थ, मोक्ष के संबंध में ऐसे-ऐसे टेढ़े प्रश्न किए कि शंकर को लगा कि आज ही किसी विद्वान से उनका पाला पड़ा है किन्तु अपने बुद्धि कौशल से उन्होंने सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर दिए। जब भारती किसी भी प्रकार से शंकर को न हरा सकी तो उसने कामकला संबंधी प्रश्न कर दिए। शंकर, जोकि 8 वर्ष

की आयु में ही संन्यासी बन गए थे और जिन्होंने नारी में केवल मातृत्व ही देखा था, उन प्रश्नों का उत्तर न दे सके। इन बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने भारती से समय मांगा। शास्त्रार्थ में समय मांगने का प्रावधान रहता था। अतः भारती ने स्वीकृति दे दी। स्वीकृति लेकर शंकर ने मृत राजा अमरूक के शरीर में योगबल से प्रवेश करके उसकी रानियों से काम-कला का ज्ञान प्राप्त करके पुनः भारती से शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थ में भारती को भी पराजित कर दिया।

(12)

शिष्य निर्माण और दिग्विजय यात्राएँ

यों तो आचार्य जी ने वाराणसी निवास के दौरान ही अनेक शिष्य बना लिए थे जो इनके सन्देश को जगह-जगह पहुँचा रहे थे किन्तु प्रमुख शिष्य 4 ही थे। इनमें से पद्मपाद को तो काशी में ही शिष्य बनाया था और मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में हराकर सुरेश्वराचार्य नाम से शिष्य बनाया। मंडन मिश्र के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं कि वे कहाँ के रहने वाले थे। कोई उन्हें भागलपुर– बिहार का निवासी मानता है तो कोई नर्मदा के उद्गम स्थल-जबलपुर के पास का मानता है और कोई उन्हें इन्दौर के पास का रहने वाला भी मानता है। मंडन मिश्र को पराजित करके शंकराचार्य ने उस क्षेत्र के अन्य सभी मत मतान्तर वालों को परास्त किया। वहाँ से वे दक्षिण को गए।

इसके साथ ही उनकी दिग्विजय-धर्म यात्राएं आरम्भ हो गई। उनकी प्रमुख यात्राएँ इस प्रकार रही–

1. कांची-शृंगेरी यात्रा
2. पुरी यात्रा
3. द्वारका यात्रा
4. कश्मीर यात्रा
5. पूर्वांचल यात्रा
6. बद्रिकाश्रम यात्रा

दक्षिण यात्रा के दौरान ही शंकराचार्य जी ने गिरि नाम के एक ब्राह्मण कुमार को अपना शिष्य बनाया। गिरि को गुरु पर बड़ी श्रद्धा थी। वे तन-मन से उनकी सेवा में लगे रहते थे। एक दिन शंकराचार्य अपने शिष्यों के समक्ष भाषण देने वाले थे– सारे शिष्य वहाँ एकत्र हो गए किन्तु गिरि तब तक नहीं पहुँचा था। शिष्य शंकराचार्य से भाषण शुरू करने का आग्रह करने लगे तो उन्होंने कहा–

ठहरो, गिरि को आने दो, इस पर वहाँ उपस्थित शिष्यगण बोल उठे, आचार्य, हम गिरि के लिए क्यों रुकें? इस मूढ़ से तो यह दीवार अच्छी है।

शंकराचार्य जी अपने प्रति निष्ठावान शिष्य के लिए इस प्रकार का व्यवहार देखकर बड़े दुःखी हुए। उन्होंने उपस्थित शिष्यों से कहा –

आप उसकी योग्यता तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों के बारे में कुछ भी नहीं जानते? उसकी योग्यता शीघ्र ही प्रकट हो जाएगी।

उस दिन भी गिरि सदा की भाँति विलम्ब से पहुँचा और आचार्य को प्रणिपात किया। आचार्य ने मुस्कुराते हुए उससे कहा–

देखो गिरि, आज हम चाहते हैं कि तुम 'आत्मा और उसकी प्रकृति' पर व्याख्यान दो, हम तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।

यह स्वामी का आदेश था और आशीर्वाद भी। अतः गिरि ने अत्यंत विनम्रता और निष्ठापूर्वक वेदान्त जैसे गहन विषय पर त्रोटक वृत्त में किन्तु सरल तरीके से अपने विचार इस खूबी के साथ प्रस्तुत किये कि वहाँ उपस्थित अन्य सहपाठी दंग रह गये। अपनी भूल पर उन्हें घोर पश्चाताप हुआ। उन्होंने आचार्य और गिरि दोनों से क्षमा याचना की। शंकराचार्य ने गिरि की विद्वता पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उसे 'त्रोटकाचार्य' नाम से सम्बोधित किया।

गोकर्ण तीर्थ की यात्रा के दौरान आचार्य जी मुकाम्बिका मन्दिर गए। वहाँ प्रभाकर नामक ब्राह्मण का एक गूंगा लड़का था। वह मंद बुद्धि प्रतीत होता था। किन्तु शंकराचार्य की दिव्य दृष्टि में वह एक

योगी दिखाई दिया। अतः उन्होंने सीधे उस गूंगे बालक से प्रश्न किया। ''तुम कौन हो?'' वह गूंगा अकस्मात् बोल उठा, ''मैं एक जीवमान शाश्वत चिरसत्य ब्रह्म हूँ—अचेतन पदार्थ नहीं।'' आत्मा की प्रकृति को अभिव्यक्त करने का यह सरलतम प्रकार था। शंकराचार्य उसकी बुद्धिमत्ता से प्रसन्न हुए और उसे अपना शिष्य बना कर अपने साथ ले गए। इसका नाम ''हस्तामलक'' रखा। कुछ स्थानों पर प्रभाकर को प्रयाग के पास का रहने वाला भी बताया गया है।

(13)

मठव्यवस्था

शंकराचार्य जी ने प्रमुख शिष्य 4 ही बनाए थे—पद्मपाद, सुरेश्वर, त्रोटक और हस्तामलक। लोग इन चारों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में मानते थे। कोई-कोई इन्हें चारों वेदों का स्वरूप मानते थे। आचार्य शंकर ने इन चारों प्रधान शिष्यों को चारों मठों का अध्यक्ष बनाकर अपने-अपने क्षेत्र के तीर्थों, देवालयों, आश्रमों और मठों की रक्षा तथा चारित्रिक शिक्षा की व्यवस्था का भार सौंपते हुए यह भी समझा दिया था कि प्रत्येक मठ अपने-अपने क्षेत्र की परिस्थितियों के अनुसार व्यवस्था बनाने में स्वतंत्र है, परन्तु जब अखिल भारतीय प्रभाव डालने वाली कोई समस्या उठे तो चारों मठाधीशों को सर्वसम्मति से कोई मार्ग निकालना होगा। उस मार्ग के निर्माण का साधन आचार्य ने इस रूप में बतलाया। चारों महाचार्यों के अतिरिक्त ऊर्ध्वास्नाय हैं, विज्ञान जिसका शरीर है, यह सुमेरु, सत्य और ज्ञान उसके दो पग, निरंजन देवता, आचार्य ईश्वर, तीर्थ मानस तीर्थ है और यह धर्म समाचरणीय है।

सबके ऊपर उन्होंने ''महानुशासन'' की स्थापना की जिसके अनुसार संन्यासियों का यह कर्तव्य निश्चित् किया गया कि वे अपने क्षेत्र के गांव-गांव भ्रमण करते हुए देखते रहे कि कोई धर्मविरुद्ध

आचरण तो नहीं कर रहा है। एक आचार्य का अवसान होने पर पवित्र जितेन्द्रिय, वेदवेदान्तविशारद, शास्त्रवेता, योगज, त्यागी संन्यासी को अभिषिक्त किया जाए। उन्होंने सारे देश में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक एकात्मता स्थापित की। अन्त में ऐसे महामान्य नियम निर्धारित कर दिए जिनका पालन करके कई सौ वर्षों तक भारत देश बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित बचा रहा। यह है आचार्य शंकर की महती देन।

(14)

आदिशंकराचार्य जी की आयु एवं कार्य पर एक दृष्टि

आयु	कार्य
एक वर्ष की आयु तक	सभी अक्षरों को सीख लिया था और मातृभाषा में भाव प्रकट करने लग गए थे।
दो वर्ष की आयु तक	मां से सुनी कथा-वार्ता याद कर लेते थे और संस्कृत बोलना शुरू कर दिया था।
3 वर्ष की आयु तक	चूड़ाकर्म संस्कार हुआ। पिता का स्वर्गवास भी इसी समय हो गया था।
4 वर्ष की आयु तक	काव्य, नाटक आदि में दक्षता प्राप्त कर ली थी।
5 वर्ष की आयु तक	यज्ञोपवीत संस्कार के बाद विद्याध्ययन के लिए गुरुगृह गमन किया था।
7 वर्ष की आयु तक	वेद, वेदान्त, वेदांगादि का अध्ययनपूर्ण करके गुरुकुल से वापिस घर आ गए थे।
8 वर्ष की आयु तक	शास्त्रों का अध्यापन करना आरम्भ कर

	दिया था। बाद में प्राणी मात्र के कल्याण के लिए संन्यास लेने के लिए गृह त्याग किया और गुरु की प्राप्ति हो गई।
12 वर्ष की आयु तक	गुरु गोबिन्द भगवत्पादाचार्य जी से वेदान्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था।
16 वर्ष की आयु तक	परमगुरु गोड़पादाचार्य जी से बद्रीकाश्रम में शिक्षा ग्रहण की। प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा तथा अन्य रचनाएं की।
16 वर्ष की आयु तक	मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर ली थी।
17 वर्ष की आयु तक	उभय भारती से शास्त्रार्थ किया। काम-कला का ज्ञान प्राप्त करने के लिए परकाया प्रवेश किया और गृहस्थ सुख का ज्ञान प्राप्त करके पुनः निजकाया प्रवेश किया। बाद में भारती को भी शास्त्रार्थ में हरा दिया।
18 वर्ष की आयु तक	मण्डल विश्वरूप मिश्र को दीक्षा देकर इनका नाम सुरेश्वराचार्य रखा।
24 वर्ष की आयु तक	दिग्विजय यात्राएं कीं। मठों की स्थापना की और अनेक मन्दिरों का पुनः निर्माण और जीर्णोद्धार कराया। अनेक प्रकरण ग्रंथ, स्तोत्र एवं अन्य ग्रन्थों की रचनाएं कीं।

31 वर्ष की आयु तक	भारतवर्ष का परिभ्रमण करके अनेक मतों का खण्डन किया, तीर्थ यात्राएं कीं, कश्मीर में सर्वज्ञ पीठारोहण किया तथा पूर्वांचल में शाक्तों से टक्कर ली ।
32 वर्ष की आयु तक	बद्रीकाश्रम जाकर केदारनाथ जी के मार्ग से कैलाशगमन किया ।

(15)

सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी आदिशंकराचार्य

राष्ट्र-जीवन की रचना में आदिशंकराचार्य जी का बहुत बड़ा हाथ रहा है । धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में उनका स्थान अत्यन्त ऊंचा है । श्रीकृष्ण के पश्चात् उनका आविर्भाव ही राष्ट्र की मूलभूत एकता को व्यावहारिक रूप देने में समर्थ हुआ है । शंकराचार्य जी में व्यक्ति, समय और परिस्थितियों के अनुसार लक्ष्य की व्याख्या करने की अद्‌भुत क्षमता थी और यही कारण था कि उन्होंने थोड़े समय में ही कट्‌टर से कट्‌टर विरोधी को भी अपने साथ मिला लिया । साधनों का अभाव, विपरीत परिस्थितियां, सत्ता लोलुपों और दिग्भ्रमित विद्वत मण्डली का विरोध भी उनके मार्ग में रुकावट नहीं बन सके । उन्होंने कन्याकुमारी से कश्मीर तक तथा गुजरात से सुदूर पूर्वांचल तक सम्पूर्ण देश की लम्बी-लम्बी यात्राएं कीं और वह भी उस स्थिति में जबकि आवागमन के साधन इतने सुगम एवं सुलभ नहीं थे । उन्होंने सभी वर्गों और क्षेत्रों के व्यक्तियों से सम्पर्क किया, विद्वानों और मनीषियों को राष्ट्रीय दृष्टिकोण समझाया, विरोधियों से शास्त्रार्थ किया, अपनों को हृदय से लगाया, दलितों को साथ बिठाकर श्रेष्ठता का पाठ पढ़ाया और सभी को अपने विचारों के अनुकूल ढाल कर उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बनाया ।

सफलता का रहस्य

राजनैतिक दृष्टि से विखण्डित, धार्मिक दृष्टि से दिग्भ्रमित, सामाजिक दृष्टि से एकात्मता के अभाव में प्रसित देश में नूतन जागृति और नव-स्फूर्ति लाकर उसकी गौरवमय अतीत के समकक्ष ले जाना कोई छोटा कार्य नहीं था। यह तो उत्तर और दक्षिण ध्रुव को मिलाने जैसा एक महान् प्रयास था, जिसको शंकर जैसा योग्य और समर्पित व्यक्तित्व ही सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता था। उनकी सफलता के पीछे उनके कुछ लक्ष्य थे, कुछ योजनाएं थीं, कुछ कार्य पद्धतियाँ थीं और कुछ निश्चित् पथ थे, जिन पर अडिग रह कर चलते रहने से ही वे इतना कार्य कर सके। वे अनन्त गुणवान व्यक्ति थे। उनके कुछ महत्वपूर्ण गुण इस प्रकार थे।

(1) समानता की भावना

आचार्य जी सभी के प्रति समानभाव रखते थे, चाहे वह व्यक्ति छोटे-से-छोटा हो या ऊंचे से ऊंचा अथवा महान् से महान्। वे सबको प्रिय थे और सब उन्हें प्रिय थे। उन्हें ऊंच-नीच या छुआछूत की भावना ने कभी भी नहीं छुआ था। ऐसा भी समय आया था जब उन्होंने एक विद्वान् चाण्डाल को गुरु कह कर प्रणाम किया था और उनको समुचित सम्मान दिया था।

(2) समन्वयवादी दृष्टिकोण

हमारे देश में वही राजनेता, वही विद्वान् वही तत्त्वज्ञ और वही विचारक सफलता पा सका जिसका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा। राम हों या कृष्ण, वाल्मीकि हों या व्यास, गौतम हों या शंकर, चाणक्य हो या चन्द्रगुप्त, सूर हों या तुलसी सभी में समन्वयात्मक वृत्ति की ही प्रधानता थी। इसीलिए वे इस देश में पूज्य बन सके और अपने उद्देश्य में सफल हो सके। शंकराचार्य जी भिन्न-भिन्न मतों और सम्प्रदायों के साधुओं-संन्यासियों और सन्तों-महन्तों में व्याप्त विभिन्न पृथक्-पृथक् बिन्दुओं को एक साथ लाकर उन्हें समन्वय की संजीवनी पिलाकर ही हिन्दू समाज को इकट्ठा कर पाए।

(3) मण्डनात्मक प्रवृत्ति

किसी भी मत अथवा देवता का उन्होंने कभी भी खण्डन नहीं किया। उन्होंने लोगों की श्रद्धा को नष्ट नहीं किया। मात्र उसका केन्द्र बदल दिया। पंचायतन का पूजन कराकर विभिन्न सम्प्रदायों में एक दूसरे के आराध्य देवों के प्रति आदर ही पैदा नहीं कराया बल्कि सभी देवी देवताओं के प्रति अपने इष्टदेव के माध्यम से वैसी ही श्रद्धा की भावना व्यक्त कराई। उनकी इस मण्डनात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही गौतम बुद्ध को हिन्दुओं के अवतारों में स्थान मिला। फलस्वरूप बौद्ध धीरे-धीरे हिन्दुओं में विलीन हो गए और हिन्दू समाज संरचना में अपना योगदान करने लगे।

(4) विविधता में एकता

तत्कालीन समाज में एकता लाने के उद्देश्य से उन्होंने शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्यावहारिक ढंग से व्याख्याएं की। उनके आधार पर ही वे यह सिद्ध करने में सफल हो सके कि शाक्त, शैव, वैष्णव आदि भिन्न-भिन्न पूजा पद्धतियों को अपनाने वाले लोग एक ही शक्ति के उपासक हैं। वे सभी एक ही राष्ट्र पुरुष की भिन्न-भिन्न रूपों में पूजा करते हैं। जब लोगों को अपनी वस्तु छोड़े बिना ही उससे भी अधिक बड़ी चीज मिली तो उनमें सहिष्णुता आ गई। इस सहिष्णुता का पानी पीकर हिन्दू संस्कृति की बेल फिर से लहलहा उठीं।

(5) लोक मंगल की कामना

आचार्य जी के हृदय में लोकमंगल की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। उनमें व्यवहार-कुशलता, वाक्-पटुता और बुद्धि-कौशल अपूर्व था। इन्हीं गुणों के कारण ही वे सबको प्रभावित करके देश भर में अपनी एक विराट शिष्ट मण्डली तैयार कर सके। इस शिष्य मण्डली ने उनकी लोक मंगल भावना को आधार बनाकर इस विशाल देश में एकता और अखण्डता को सुदृढ़ करने के लिए जन-जागरण का कार्य बड़ी तेजी के साथ किया और उसमें सफलता पाई।

(6) सच्चा संन्यास

शंकराचार्य जी मन, वचन और कर्म से सच्चे अर्थों में संन्यासी थे। उनके अनुसार संन्यासी का जीवन निष्क्रियता का नहीं सक्रियता का है, आनन्द का नहीं कष्ट का है और सुख का नहीं दुःख का है। संन्यासी को समाज का भार नहीं बनना है, वरन् भार हल्का करने वाला बनना है। अपनी इसी भावना के आधार पर जीवन पर्यन्त कार्य करके वे समाज के विभिन्न अंगों में प्रेम का संचार कर सके, उनके दुःखों को दूर कर सके, समाज का भार हल्का कर सके और देश में एकात्मकता स्थापित कर सके। यही संन्यासी का सच्चा काम था।

(7) कर्मयोगी

वे साक्षात् रूप में श्री कृष्ण के ज्ञान योग, कर्म योग और भक्ति योग के समन्वित रूप थे। उन्होंने समाज के सामने उसी समन्वित रूप को रखकर उसका महत्व प्रतिष्ठापित किया। लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अद्वैत में भक्ति को मिलाया। अनेक भक्ति स्तोत्रों की रचनाएं की। समस्त संसार को माया समझने वाले शंकर न जाने कितने दिन पीड़ितों की सेवा में बिताते रहे। भले ही उनके निकट के अनेक सहयोगी उनके इस कार्य से सहमत न रहे हों। वे वास्तव में सच्चे कर्मयोगी थे। उन्होंने कष्टों को सहा, आपत्तियों का सामना किया और विपरीत परिस्थितियों से जूझे किन्तु अपने उद्देश्य से नहीं हटे। उन्होंने सबको अपने लक्ष्य के अनुरूप ढाल कर देश भक्ति, राष्ट्र सेवा और धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया।

(8) सततकर्मी

उनकी सफलता का एक बड़ा रहस्य समयानुसार कार्य की योजनाएं बना कर उनके कार्यान्वयन में प्राणपण से जुट जाने में था। एक बार उन्होंने जो कदम उठा लिया उस पर दृढ़ता से डटे रहे और कार्य करते रहे। सतत् कार्य करने की सामर्थ्य हर व्यक्ति में नहीं

होती । निरन्तर कार्य में जुटे रह कर अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेना भी हर किसी के सामर्थ्य में नहीं होता । शंकराचार्य जैसे पुरुष ही ऐसा कर सकते थे ।

(9) मृदुभाषी

आचार्य शंकर भाषा के बड़े पारखी थे । कठिन से कठिन भावों को सरल से सरल शब्दों में व्यक्त करने की कला में वे अद्वितीय थे । दर्शन जैसे दुरुह विषय को सामान्य जनता के समक्ष इस प्रकार से प्रस्तुत किया कि वह जन-जन के कण्ठ का हार बन गये । उनके भाष्यों की प्रशंसा सभी ने मुक्त कण्ठ से की । 'स्तोत्रों' की भाषा यदि सरल न होती तो कैसे वे इतने प्रिय हो पाते और लिखित ग्रंथों की बात ही नहीं वे बातचीत में भी इतनी मनोहारी भाषा का प्रयोग करते थे कि सामने वाला विरोधी से विरोधी व्यक्ति भी उनकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह पाता था । उनकी भाषा में कोमलता, मृदुलता, स्वाभाविकता और व्यावहारिकता कूट-कूट कर भरी होती थी । तभी तो पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के काल में भी वे संस्कृत को लोकप्रिय बना सके । वे संस्कृत भाषा के प्रबल समर्थकों में से थे ।

शंकराचार्य जी ने लोगों को केवल ज्ञान से नहीं प्रेम से जीता था । उन्होंने लोगों के केवल मस्तिष्क पर ही नहीं हृदय पर भी विजय पाई थीं । सभी लोगों को समुचित सम्मान देकर ही उन्होंने स्वयं को सम्मान का अधिकारी बनाया था । वे सम्पूर्ण समाज के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की दृष्टि से सबके बीच आत्मीयता और अपनेपन का सन्देश लेकर जाते थे और उनको अपने अतीत के आधार पर वर्तमान में स्वाभिमानपूर्वक खड़ा होना सिखाते थे । इसीलिए वे तत्कालीन समाज में श्रेष्ठ आचार-विचार, पूर्ण निष्ठा तथा कर्मण्यता और दृढ विश्वास प्रतिष्ठित करा कर थोड़े ही समय में विशाल हिन्दू समाज को

संगठित करके सम्पूर्ण राष्ट्र में एकात्मता-निर्माण का वह महान् कार्य सम्पन्न कर सके, जिसके आधार पर आसेतु हिमाचल उन्हें युग-युग तक याद किया जाता रहेगा ।

(16)

आदिशंकराचार्य की दिग्विजय यात्रा

अवैदिक दर्शन, सिद्धान्त और जीवन पद्धति में आकण्ठ डूबे हुए हिन्दू समाज को धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, वैचारिक आदि विभिन्न दृष्टियों से मुक्ति दिलाने में आदिशंकराचार्य जी को अनथक, अविरल और अकथनीय प्रयास करने पड़े थे । अपने लक्ष्य को पाने के लिए, अपने सच्चे अनुयायी तैयार करने के लिए और अपना मार्ग निष्कंटक बनाने के लिए उन्हें कठोर से कठोर, विपरीत और असहनीय से असहनीय स्थितियों का मुकाबला करना पड़ा । कभी-कभी तो उन्हें अपने समर्थक कहे जाने वाले व्यक्तियों से भी जूझना पड़ा तो वे जूझे किन्तु झुके नहीं । इस दृढ़ता के फलस्वरूप ही उनमें वह सामर्थ्य आ सकी जिसके आधार पर वे देश में फैले विविधतापूर्ण मत-मतान्तरों में समरसता पैदा करके देश के कण-कण में व्याप्त होकर जन-जन के हृदय में सम्मानजनक स्थान पा सके ।

यात्रा से पूर्व को स्थिति-निर्लिप्त होते हुए बन्धनयुक्त

आदिशंकराचार्य जी चाहे जितने भी निर्लिप्त, बन्धनरहित और मुक्त प्रकृति के क्यों न रहे हों फिर भी अपनी माँ और गुरु गोविन्द भगवत्पादाचार्य जी से वे कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी प्रकार से और कुछ-न-कुछ मात्रा में जुड़े हुए अवश्य थे । इसलिए इन्हें छोड़ने में उन्हें कुछ संकोच अवश्य था । इसे संयोग ही कहिए या प्रभु इच्छा कि अपने गुरु की आज्ञा, अपने हृदय की कामना और संन्यासी जीवन की सार्थकता की पूर्ति-निमित जन-जन का कल्याण करने हेतु वेदान्त का

प्रचार करने के लिए दिग्विजय पर निकलने से पूर्व ही वे अपनी माता और गुरु के स्नेह-बन्धन से भी सदा-सदा के लिए मुक्त हो गए। इसीलिए वे अपनी लक्ष्य-सिद्धि की ओर बिना किसी रुकावट के तेजी से बढ़ते चले गए।

यात्रा की तैयारी

अपने जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के लिए निकलने से पूर्व ही वे वेद-शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण करके अनेक भाष्यों और स्तोत्रों की रचना भी कर चुके थे। साथ ही उन्होंने देश, काल तथा समाज की विभिन्न स्थितियों का अध्ययन भी पूर्ण रूप से कर लिया था। इन सब के परिप्रेक्ष्य में ही उन्होंने अपनी कार्य-योजना का निर्धारण किया था। उन्होंने यह बात निश्चित रूप से जान ली थी कि सांस्कृतिक एकता के बिना राजनैतिक और सामाजिक एकता कभी भी टिकाऊ नहीं रह सकती। उसका विश्वास था कि आत्मा बनी रहेगी तो शरीर की चिन्ता कर लेगी।

आचार्य शंकर ने अपने कार्य का श्रीगणेश काशी से करना ही उचित समझा। अतः वे वहाँ गए और कुछ काल तक वहाँ निवास भी किया। वहाँ रहकर उन्होंने कुछ भक्तिभावपूर्ण रचनाएं भी की। वेदान्त-प्रस्थानत्रयी पर उनका भाष्य पहले से ही प्रसिद्ध हो चुका था। उनकी विद्वता के कारण काशी के विद्वानों द्वारा उन्हें पूर्ण सम्मान दिया जाने लगा था। उनके चारों विद्वान् ब्राह्मणों का जमघट एकत्रित होने लगा था। शास्त्रार्थियों की बातों का सद्भावना पूर्ण और समुचित समाधान कर देने से चारों ओर उनका यश भी फैलने लगा था। उनकी समर्पित शिष्यमंडली का विस्तार निरन्तर होता जा रहा था। यहाँ तक कि काशी नरेश भी उनके शिष्य बन चुके थे।

यात्रा का उद्देदश्य

सम्पूर्ण देश में अवैदिक, अनैतिक और अग्रहणीय मत-मतान्तनरों को निष्प्रभ करके वैदिक धर्म का प्रचार करके एकात्मता

स्थापित करना, धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिए देश के चारों कोनों में मठों की स्थापना करना, पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार करना तथा जहाँ मन्दिर नहीं थे वहाँ मन्दिरों का निर्माण करना ही उनकी यात्रा का उद्देश्य था।

(1) दिग्विजय यात्रा

यात्रा पर निकलने से पूर्व ही आचार्य जी की ख्याति देश-भर में फैल चुकी थी। अखिल भारतीय स्तर पर प्रसिद्धि पा जाने के पश्चात् ही इन्होंने अपनी दिग्विजय यात्रा का शुभारम्भ किया। इनकी दिग्विजय यात्रा के सम्बन्ध में अनेक मत हैं कोई पहले इनके दक्षिण फिर पूर्व, फिर पश्चिम और बाद में उत्तर दिशा में जाने का उल्लेख करते हैं। और कोई पहले उत्तर, फिर दक्षिण, फिर पूर्व और फिर पश्चिम जाने का उल्लेख करते हैं। यही नहीं, मठों की स्थापना के संबंध में भी क्रम में अंतर पाया जाता है। कुछ लोग ज्योर्तिमठ को प्रथम, द्वारका को द्वितीय, शृंगेरी को तृतीय तथा गोवर्धन पीठ को चतुर्थ के क्रम में रखते हैं। जबकि कई लोग शृंगेरी को क्रम संख्या एक पर रखते है। हमने यहाँ उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम दिशाओं का क्रम रखा है।

(2) उत्तरी क्षेत्र

सर्वप्रथम वे उत्तर की ओर गए। मार्ग में स्थान-स्थान पर लोग उनके दर्शनों को आते थे। शैव उन्हें शंकर और वैष्णव उन्हें विष्णु का अवतार मानने लगे थे। जबकि स्वयं शंकर का यह विश्वास था कि शिव, विष्णु, शक्ति, गणपति और आदित्य सभी एक हैं। इनमें कहीं भी कोई विरोध नहीं है। जो वैष्णव हैं वही शैव हैं और वही शाक्त भी। इसीलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर पंचायतन की पूजा करने का आदेश दिया था। हाँ, अपने इष्ट देव को बीच में रखने की हरेक को सुविधा थी। काशी से चल कर वे चरणाद्रिगढ़ आए और वहाँ से माघी अमावस्या को वे प्रयाग पहुँचे। यहाँ वे कुछ दिन रुके। इसी समय इन्होंने कुमारिल भट्ट से उनके आत्मदाह से पूर्व ही भेंट की थी। यही

रह कर आपने यमुनाष्टक, प्रयागाष्टक, माध्वाष्टक, लक्ष्मीनुसिंह पंचरत्न, अद्वैत पंचरत्न तथा वेदसार शिवस्तोत्र की रचना की ।

कुमारिल भट्ट की आज्ञा से वे उस समय के प्रसिद्ध विद्वान मंडल मिश्र को अपनी राह का राही बनाने के उद्देश्य से महिष्मति पहुँचे । वहाँ इन्होंने मंडन मिश्र और उनकी विदुषी पत्नी उभय भारती को शास्त्रार्थ में हरा कर मंडन मिश्र को शिष्य बनाकर अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगा लिया । मंडन मिश्र के शिष्य बनने तक हज़ारों व्यक्ति उनके अनुयायी हो चुके थे जिन्होंने समस्त उत्तर क्षेत्र में इनकी विजय पताका फहरा दी थी । इस क्षेत्र में वे अयोध्या, गोकुल, मथुरा, वृंदावन, हरिद्वार, उत्तरकाशी, मिथिला, नालन्दा, राहगृह आदि स्थानों पर भी गए ।

(3) दक्षिणी क्षेत्र

महिष्मति से वे दक्षिण की ओर अपने साथ एक बड़ी शिष्य मंडली को लेकर गए । स्थिति तो अब यह हो गई थी कि वे जिधर भी जाते थे लोग उनके ही हो जाते थे । दक्षिण की यात्रा में इन्होंने शाक्त, तान्त्रिक, भैरवोपासक, कापालिक और द्वैतवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके अपनी विजय के डंके बजाए ।

(4) शाक्त पराजय

दक्षिण में वे सबसे पहले सेतुबंध की ओर गए । वहाँ पहुँचकर इन्होंने सर्वप्रथम रामेश्वरम् की पूजा की । इस क्षेत्र में बड़ी संख्या में शाक्त लोग रहते थे जो देवी की पूजा करते थे और पूजा के बहाने मद्यपान को अपना धर्म समझते थे । शंकर का इन लोगों से काफी वादविवाद हुआ । आचार्य जी ने अपनी अचूक युक्तियों से उनके मत का खंडन किया । युक्तियाँ इतनी प्रबल थी कि शाक्त लोग उन्हें काटने में असमर्थ रहे । यहाँ से विजयी होकर शंकर हस्तिगिरि की मेखला पर स्थित काँची नगरी पहुँचे । काँची दक्षिण का काशी कहलाता है । वे यहाँ भी कुछ दिन रुके ।

(5) तान्त्रिक पराजय

काँची में इन्होंने भगवती का एक भव्य मन्दिर बनवाया। जहाँ विधिवत् श्रुति, अनुकूल वैदिक पूजा आरम्भ कराई। इस पूजा के प्रभाव से यहाँ पर फैले तान्त्रिकों का मोह जाल नष्ट हो गया और उन्हें इस क्षेत्र को छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। शंकराचार्य की दृष्टि में सम्पूर्ण भारत एक पवित्र भूमि थी। उसका कल्याण और एकता धर्म के आधार पर ही सम्भव मानकर वे चले थे। एकता के विचार को सुदृढ़ करने हेतु भारत की चार दिशाओं में चार पीठों की स्थापना की योजना दक्षिण यात्रा के दौरान ही तैयार की और इस योजना के अनुसार यहीं से समाज को स्फूर्ति देने वाले तथा श्रद्धा के केन्द्र शृंगेरी पीठ की स्थापना करके इस योजना का श्रीगणेश किया। उत्तर भारत के प्रसिद्ध विद्वान् मंडन विश्व रूप मिश्र को, जो अब आचार्य जी की कृपा से सुरेश्वराचार्य नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे, यहाँ का पहला मठाधीश बनाया गया। कतिपय विद्वानों का मत इससे भिन्न भी है। दक्षिण क्षेत्र में वे उडुप्पी, चिदम्बरम, जुम्बेश्वरम, तिरुपल्लि, तिरुचेन्दूर, तिरुवन्तपुरम्, त्रिचूर, तिरुच्चिरापल्लि, मदुरै, श्रीरंग, आदि स्थानों पर भी गए थे।

(6) पूर्वी क्षेत्र

दक्षिण का कार्य पूरा करके वे पुनः उत्तर की ओर चले। मध्यार्जुन क्षेत्र में शैवों को सन्तुष्ट कर आचार्य ने विदर्भ की ओर प्रस्थान किया।

(7) भैरवों की पराजय

यहाँ आकर आचार्य जी विदर्भ की राजधानी जिसे बरार के नाम से भी जाना जाता था की ओर बढ़े। यहाँ विदर्भ राज ने इनका बड़ा स्वागत किया। इस क्षेत्र में भैरवोपासकों की प्रधानता थी। इनको अपने शिष्यों द्वारा परास्त कराकर शंकर ने वहाँ भी वैदिक धर्म की स्थापना की।

(8) कापालिक पराजय

यहाँ से आचार्य कर्नाटक की ओर बढ़े। कर्नाटक क्षेत्र में कापालिकों ने अपना कपट जाल काफी मात्रा में फैला रखा था। लोग इनसे काफी आतंकित थे। ये लोग वेदों से बड़ी ईर्ष्या करते थे, सभी महापुरुषों का विरोध करते थे और सदा संसार के अमंगल की कामना रखते थे। इनकी संख्या बहुत बड़ी थी। इन्हें समाप्त करने में राज्य शक्ति का सहारा लेना पड़ा क्योंकि ये लोग तलवार, तोमर, त्रिशूल आदि से सज्जित रहते थे और ब्राह्मणों का नाश करते रहते थे। आचार्य जी ने यहाँ सर्व साधारण को लक्ष्मी का वास्तविक उपयोग बताया। उन्होंने बताया कि लक्ष्मी के जीवन की धन्यता शेषशायी विष्णु की सेवा में ही है अर्थात् धन का सही उपयोग देश, धर्म और समाज की सेवा में ही है। यदि ऐसा नहीं होता है तो उसका उपार्जन व्यर्थ ही है। धन साधन है, साध्य नहीं।

इस प्रकार अपने ज्ञान से दिग्दिगन्त को आलोकित करते हुए वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। यहाँ उन्होंने पूर्व प्रदेशों के मार्ग-दर्शन के लिए दक्षिण के शृंगेरी मठ की भाँति गोवर्धन मठ की स्थापना की। मुकाम्बिका क्षेत्र के श्रीवलि ग्राम के एक ब्राह्मण प्रभाकर के पुत्र हस्तामलकाचार्य को यहाँ का पीठाधिपति बनाया। यहाँ से भी देश में उसी एकात्मता की भावना का प्रकाश फैलाने वाले संन्यासी निकलते थे जैसे दक्षिण में शृंगेरी मठ से। इसीलिए दक्षिण और पूर्व एक ही रंग में रंग गए। पूर्वी क्षेत्र में वे गंगासागर, गौर, तामलुक, सोमतट, राजशाही, घोषाक आदि स्थानों पर भी गए थे।

(9) पश्चिमी क्षेत्र

पुरी में अपना कार्य पूरा करके वहाँ से काशी हेतु हुए वे पश्चिमी क्षेत्र की दिग्विजय के निमित्त गए। सूर्य जहाँ भी जाता है प्रकाश ही फैलाता है। एकत्व का संदेश सुनाते-सुनाते वे द्वारका की ओर चल पड़े।

(10) द्वैतवाद पराजय

पश्चिमी क्षेत्र में समुद्र तट पर पहुँचकर शंकर ने समुद्र में स्नान किया और पार्वती-वल्लभ शिव की बड़े सुन्दर शब्दों में भुजंग प्रयास छन्द में स्तुति की। उनकी चालीस पद्यों की यह स्तुति 'शिव भुजंग स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुई। पास में ही नीलकण्ठ नाम के प्रसिद्ध शैव द्वैतवादी विद्वान् रहते थे। शंकराचार्य के आगमन की बात सुनकर वे उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त करने की इच्छा से यहाँ आए। दोनों में जमकर शास्त्रार्थ हुआ। नीलकण्ठ ने अपने पक्ष में युक्तियाँ दी जबकि शंकर ने अपने पक्ष में प्रमाण देकर युक्तियों को काटा। नीलकण्ठ का कहना था कि वेदान्त द्वारा प्रस्थापित ब्रह्म और जीव की अभिन्नता यथार्थ नहीं है क्योंकि परमात्मा और आत्मा परस्पर विरोधी धर्म रखते हैं।

एक प्रकाश है और दूसरा अंधकार, एक सर्वत्र है, और दूसरा अल्पज्ञ। अतः दोनों में एकता हो ही नहीं सकती। जीव और ब्रह्म में भिन्नता और विरुद्धता प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो सकती है। शीशे में प्रतिबिम्बित मुख नितान्त असत्य है उसमें और वास्तविक मुख में एक्य हो ही नहीं सकता। गो और घोड़े पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि दोनों के धर्म एक-दूसरे के विरुद्ध होने के कारण एकता सम्भव ही नहीं है। यदि इनको एक माना जाएगा तो व्यवहार जगत् में अनर्थ हो जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि मैं परमात्मा नहीं हूँ। परमात्मा से व्यक्ति, परमात्मा से आत्मा, ब्रह्म से जीव का भेद प्रत्यक्ष है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद सिद्ध होने पर भी अभेद कैसे माना जा सकता है? उन्होंने उपनिषदों द्वारा निरूपित अद्वैत का सैकड़ों युक्तियाँ देकर खण्डन किया।

आदिशंकराचार्य जी का कहना था कि परमात्मा व आत्मा एक ही हैं। परमात्मा व आत्मा का जो स्वरूप हमारे अनुभव में आता है वह उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार रजत में दिखलाई देने वाला युक्ति का रूप देखने में दोनों में अन्तर भले ही हो किन्तु अभीष्ट एक ही है।

जिस प्रकार शक्ति का अधिष्ठान रूप रजत ही है उसी प्रकार मूढ़ता और सर्वज्ञत्व के पृथक् होते हुए भी इनका अभीष्ट चेतन्य (शुद्ध रूप) एक ही है। इसी तरह के सैंकड़ों प्रमाण देकर शंकर ने अपने मत का प्रतिपादन किया। उन प्रमाणों का न काट पाने पर नीलकण्ठ को हार माननी पड़ी। नीलकण्ठ की हार से उदयन जैसे तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् भी शंकर के समर्थक हो गए। इस प्रकार द्वैतमत की विजय हो गई।

(11) पाँच रात्र पराजय

वहाँ से आगे चलकर आचार्य शंकर सौराष्ट्र आदि क्षेत्रों में अपने मत का प्रचार करके सर्वत्र विद्वानों प्रशंसित होकर द्वारकापुरी पहुँचे। यहाँ पांचरात्र सम्प्रदाय की प्रधानता थी। वे लोग अपनी भुजाओं पर शंख चक्र की तप्तमुद्राओं के चिह्न धारण करते थे। इनके माथे पर दण्ड के समान ऊर्ध्व पुण्ड और कानों के ऊपर तुलसी का पत्ता रहता था। इनके अनुसार पांच प्रकार का भेद मानने वालों की ही मुक्ति होती थी। पाँच भेद इस प्रकार हैं–

आत्मा-परमात्मा का भेद, परस्पर जीवों का भेद, जीव और जड़ का भेद, ईश्वर और जड़ का भेद, जड़ का जड़ से भेद। इनकी 108 संहिताएं हैं। इनमें से अहिर्बुघ्न्य संहिता प्रसिद्ध है। इन संहिताओं के चार विषय हैं – (1) ज्ञान–ब्रह्म, जीव और जगत् के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा सृष्टि-तत्त्व का निरुपण, (2) योग–मुक्ति के साधनभूत योग तथा उसकी प्रक्रियाओं का वर्णन (3) क्रिया– देवालयों का निर्माण, मूर्ति की स्थापना आदि (4) चर्या– दैनिक क्रिया, मूर्तियों और यंत्रों का पूजन आदि। पांचरात्र में चतुर्व्यूह सिद्धान्त की अपनी विशेषता है। इनके अनुसार वासुदेव इस जगत् के परमात्मा हैं और उन्हीं से आत्मा की उत्पत्ति होती है। जीव से मन और मन से अहंकार की उत्पत्ति होती है। ईश्वर निर्गुण होते हुए भी सगुण है।

आचार्य जी के द्वारका पहुँचने पर सैंकड़ों की संख्या में पांचरात्र मत के समर्थक आचार्य जी के शास्त्रार्थ करने के लिए आये। आचार्य जी तक तो ये लोग पहुँचे ही नहीं उनके शिष्यों ने ही अपने तर्कों से इन लोगों को परास्त करके भगा दिया। यहाँ भी अपनी विजय पताका फहराने के पश्चात् आचार्य जी ने कालिका पीठ नाक के एक मठ की स्थापना की और केरल के सुरेश शर्मा, जोकि बाद में पद्मापादाचार्य जी बने थे, को पीठाधिपति बनाया। अनेक व्यक्ति इसे शारदा पीठ भी कहते हैं। द्वारका पीठ की वर्तमान में सुलभ सूची के अनुसार विश्वरूपाचार्य (मंडन मिश्र) यहाँ के प्रथम आचार्य थे। वहाँ से वे उज्जैन आदि होते हुए पुनः उत्तर की ओर चले।

(12) भास्कर भट्ट पराजय

शाक्त, काल्पनिक, तान्त्रिक, द्वैतवाद आदि मतों को पराजित करते हुए और मठों की स्थापना करते हुए आचार्य शंकर उज्जयिनी नगरी पहुँचे। क्षिप्रा नदी के तट पर बसी भगवान् महाकाल की यह सुन्दर नगरी अद्भुत थी। यहाँ पहुँचकर आचार्य जी ने भगवान् महाकाल को प्रणाम किया। यहाँ एक से एक विद्वान् निवास करते थे। विद्वानों में श्रेष्ठ भास्कर भट्ट नामक एक अति तेजस्वी, प्रचण्ड तार्किक और धुरन्धर पंडित भी यहीं रहते थे। इनसे भी आचार्य जी का जोरदार शास्त्रार्थ हुआ। तटस्थ लोगों को दोनों के तथ्यों में कोई विशेष अन्तर दिखाई न दिया। भास्कर भट्ट का प्रधान लक्ष्य माया को काटना था। इनके अनुसार प्रकृति को जीवात्मा के आश्रित मानना ठीक नहीं। वह ब्रह्म के आश्रित होकर आत्मा और परमात्मा के परस्पर भेद को बतलाती है। जबकि शंकर के अनुसार माया जीव का आश्रय लेकर भेद उत्पन्न करती है। भास्कर भट्ट ही से उपनिषदों के मंत्रों द्वारा प्रकाशित अद्वैत तत्त्व का बड़ी निपुणता के साथ प्रबल रूप में खण्डन किया। शंकर ने उनकी योग्यता देखकर बड़े प्रौढ़ तर्कों से उनकी बातों को काटा।

भास्कर– आपका यह कहना ठीक नहीं है कि जीव और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न हैं और भेद तो माया द्वारा ही उत्पन्न किया जा जाता है। क्योंकि माया न तो जीव का आश्रय लेकर भेद उत्पन्न करती है और न ब्रह्म का। जीव और ईश की कल्पना माया के पश्चात् होती है। माया के उत्पत्ति काल में न तो जीव-भाव रहता है और न ईश-भाव। अतः वह भेद कैसे उत्पन्न कर सकती है?

शंकर – लोक में दर्पण बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद बतलाता है। वह दर्पण बिम्बगत है या प्रतिबिम्बगत है? यदि मुख मात्र का आश्रय लेकर दर्पण भेद बतलाता है तो ब्रह्म का आश्रय लेकर माया भेद बताती है।

भास्कर – माया ब्रह्म में दुःख आदि भावों को उत्पन्न क्यों नहीं करती? जीव में ही क्यों करती है?

शंकर – सामने रहने पर भी दर्पण बिम्ब में नहीं प्रतिबिम्ब में ही विकार उत्पन्न करता है। इसी प्रकार माया भी परमात्मा को छोड़कर जीव में ही दुःख सुख आदि की भावनाओं को प्रकट करती है।

इस प्रकार दोनों उद्भट विद्वानों में इस विषय पर बड़ा लम्बा शास्त्रार्थ हुआ। आरम्भ में कोई भी किसी को निरुत्तर नहीं कर सका। लेकिन बाद में जाकर जब शंकराचार्य जी की अकाट्य युक्तियों को भास्कर भट्ट काटने में असमर्थ हो गए तब शंकर ने भास्कर भट्ट पर अपने मत की प्रतिष्ठापना करा दी। भास्कर भट्ट को पराजित करना महान् दुष्कर कार्य था। अन्ततोगत्वा शंकर को इसमें विजय मिल गई।

इसके पश्चात् आचार्य ने अवन्ति देश में प्रसिद्ध मयूर, दण्डी आदि विद्वानों के द्वैत विषयक मत के सिद्धान्तों को निस्तेज करके अपनी विजय की दुन्दुभी बजाई। यहाँ से वे आगे बढ़े। आगे भयंकर रेगिस्तान आ गया किन्तु यह अत्यन्त भयंकर मरुस्थल भी उनके मार्ग को रोक नहीं पाया। भीषण मरुस्थल पार करके वे पंचनद की ओर चले।

(13) जैनमत की पराजय

मार्ग में वाह्लीक प्रदेश भी आया। यहाँ जैनमत के प्रसिद्ध विद्वानों से वादविवाद हुआ। शंकराचार्य जी ने जैनियों के आत्मा को मध्यम परिणाम वाला मानने वाले सिद्धान्त को भी यह कह कर अमान्य कर दिया कि सद् और असद् परस्पर विरोधी होने के कारण एक व्यक्ति में एक साथ वे उत्पन्न हो ही नहीं सकते। जैनमत का खण्डन करके आचार्य जी दरद, भरत, शूरसेन, कुरु आदि क्षेत्रों में अपनी विजय यात्रा करते हुए पांचाल प्रदेश पहुँचे।

(14) बौद्धमत की पराजय

पांचाल प्रदेश के वेद विरोधी वातावरण को देखकर उनका मन क्षुब्ध हो उठा। अपनी इच्छा पूर्ति करने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। तक्षशिला में उनकी मुठभेड़ बौद्ध विद्वानों से हो ही गई। आचार्य शब्दों के पीछे नहीं बल्कि व्यवहार के पीछे थे। शब्दाडम्बर से तो वह कोसो दूर थे। बौद्धों से शास्त्रार्थ हुआ, तर्क-वितर्क चले और अन्त में गौतम बुद्ध को भगवान् का अवतार मानकर बौद्धों को हिन्दू की संज्ञा देकर सबको अपने समाज का अंग बनाकर ही दम लिया। पश्चिम क्षेत्र में वे प्रभास पंडरपुर, गिरनार, सोमनाथ, मालवा, उज्जैन, कन्दर, तक्षशिला, पेशावर आदि स्थानों पर गये।

(15) सर्वज्ञपीठ में प्रवेश

तक्षशीला से आचार्य काश्मीर की ओर गये। उनके श्रीनगर पहुँचते-पहुँचते चारों ओर के विभिन्न मतों के विद्वान् भी वहाँ पहुँचे। शंकर की विजय पताका सम्पूर्ण देश में फैल चुकी थी। अन्त में ही वे कश्मीर के सर्वज्ञ पीठ के निकट आए। शारदा मन्दिर के चारों ओर चार द्वार थे जिनमें से पूर्व, पश्चिम और उत्तर के द्वार खुले रहते थे केवल उसका दक्षिण द्वार अभी तक नहीं खुला था। आचार्य जी उस सारस्वत-दर्शन पर पुलकित हो गए। वे लपककर उसके चबूतरे पर

चढ़ गए और बलपूर्वक एक ही धक्के में उन्होंने दक्षिण द्वार को खोल दिया। इनके इस साहस को देखकर वहाँ एकत्रित पण्डित समुदाय ने क्रोध में भर कर एक साथ पूछा, कौन हो तुम? इससे पहले कि तुम इस द्वार में प्रवेश करो तुम्हें अपनी सर्वज्ञता का परिचय देना होगा। शंकर ने उनकी ललकार को स्वीकार किया और उन सभी प्रश्नों के यथा योग्य उत्तर देने आरम्भ किये।

(16) वैशेषिक मत पराजय

वैशेषिक मतानुयायी परमाणुवाद के समर्थक हैं। इनके अनुसार जगत् का आरम्भ परमाणु से होता है। दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है और तीन द्वयणुकों के मिलने पर त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। वैशेषिकों का प्रश्न था कि द्वयणुक में रहने वाला जो अणुत्व है वह किस प्रकार से पैदा होता है? आचार्य का उत्तर था कि परमाणुओं में जो द्वित्व संख्या है वही द्वयणुक के अभाव का कारण है। एक अन्य वैशेषिक ने आचार्य से पूछा कि वैशेषिक मत से नैयायिक मत में मुक्ति की क्या विशेषता है? आचार्य जी का उत्तर था कि वैशेषिक मत के अनुसार – गुण के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध बना रहता है उस सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर परमात्मा आकाश की भाँति निर्लेप रहता है–यही मुक्ति है जबकि न्याय मत में आत्मा की वह स्थिति आनन्दयुक्त होने पर मुक्ति के नाम से पुकारी जाती है। अपने प्रश्नों के इस प्रकार के सटीक उत्तरों के मिलने से वैशेषिक इनके समक्ष टिक न सके।

(17) सांख्यवादियों की पराजय

सांख्यवादी विद्वानों ने आचार्य जी से पूछा कि मूल प्रकृति स्वतंत्र रूप से जगत् का कारण है अथवा किसी चैतन्य से अधिष्ठित होने पर जगत् का कारण है। आचार्य का कहना था कि प्रकृति विश्व की जननी है। वह सत, रज और तम इन गुणों से त्रिगुणात्मिका है।

स्वयं स्वतंत्र है। परिणाम के कारण नाना रूपों को धारण करने वाली है। यही कपिल का सिद्धान्त है परन्तु वेदान्त में वह परतन्त्र मानी जाती है। इसके साथ ही उन्होंने तीनों प्रकार के बौद्धाचार्यों (यथा– बाह्यार्थवादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी) दिगम्बर और अस्तिकाय जैनाचार्यों आदि के प्रश्नों के उत्तर देकर उन्हें भी सन्तुष्ट किया। कठिन-से-कठिन प्रश्न भी उनके लिये सरल था।

वे परीक्षा में खरे उतरे। विजेता भाव से वे उस पवित्र मन्दिर की ओर बढ़े। शंकर विनय के साथ सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर गये और उस सर्वज्ञ पीठ में बैठकर ध्यानावस्थित हो गये। सभी अपने समवेद स्वर में शंकर का जयगान कर रहे थे परन्तु शंकर सच्चिदानन्द में लीन थे। इस प्रकार उन्होंने उन लोगों को जो कि शारदा मन्दिर से अन्य विद्वानों की भाँति शंकराचार्य जी को भी असफल होकर लौटता देखने के इच्छुक थे, निराश कर दिया। उनकी आकांक्षाओं के विपरीत वे शारदापीठ में पूजा करके सभी को सन्तुष्ट करके और कुछ दिन वहाँ रुककर वहाँ के विद्वानों को अपने राह का राही बनाकर ही वहाँ से निकले।

(18) पूर्वांचल विजय

आचार्य जी की इस दिग्विजय यात्रा के परिणामस्वरूप देश के उत्तर, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व के सभी प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के ध्वज गढ़ चुके थे। चारों ओर हिन्दू धर्म का जय-जयकार हो रहा था। किन्तु सुदूर पूर्व में प्राग्ज्योतिष में अभी भी शंकर की ध्वनि नहीं गूंजी थी। अतः उस ओर प्रस्थान किया। अनेकानेक पहाड़ियों, नदियों और मैदानों को पार कर वे वहाँ पहुँचे। कामरूप में आचार्य जी को बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़े। शाक्त मत वालों में श्रद्धा और भक्ति के साथ-साथ वासनाजनित दुराग्रह भी था। वे सत्य को देख कर भी अनदेखा करके उसे समझना नहीं चाहते थे। आदिशंकराचार्य जी ने उनके दुराग्रह को समझ लिया था। उनके पास समय कम था। अतः उन्होंने उनको

सुधारने के लिए प्रयत्न करने में समय नष्ट करने के स्थान पर जन साधारण में अपना कार्य आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे जनता उनके चारों ओर एकत्रित होने लगी और वेदान्त की चर्चा ग्राम-ग्राम और घर-घर में पहुँच गई। धीरे-धीरे उनका पूर्वांचल का सम्पूर्ण भ्रमण भी पूरा हो गया।

(17)

आदिशंकराचार्य और मूर्तिपूजा

शंकर जी ने समस्त अवैदिक पाखण्डों का बड़ी दृढ़ता से खण्डन किया है। श्री शंकर जी की पैनी दृष्टि से यह रहस्य भी छिपा नहीं था कि सब प्रकार के धार्मिक पाखण्डों की जड़ बहुत बड़े अंशों में मूर्ति पूजा है। अतः महान् शंकर ने मूर्तिपूजा का बेलाग खण्डन किया और बौद्ध मत के साथ ही इ से भी देश निकाला देने का प्रयन्त किया। अपनी पुस्तक 'परा पूजा' में उन्होंने निम्न शब्दों में कड़ी आलोचना की है—

1. **पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम्।**
   स्वच्छस्य पाद्यमर्घञ्च शुद्धस्याचमनंकुतः।।

सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा का मूर्ति विशेष में आवाह्न कैसे हो सकता है तथा सर्वाधार ईश्वर को सिंहासन पर कैसे बिठाया जा सकता है? जो स्वयं स्वच्छ है उनके लिये पाद्य और अर्घ के रूप में जल समर्पित करना कहाँ तक उचित है? जो स्वयं शुद्ध है उसको आचमन कैसे करा सकते हो?

2. **सर्वाधारो निराधारः सर्व व्यापक ईश्वरः।**
   प्राणादि प्रेरकत्वेन जीवने हेतुरेव च।।

परमेश्वर निराधार और सर्वव्यापक है। वह प्राणों का प्रेरक और जीवन का हेतु है।

3. अधमा प्रतिमा पूजा स्तोत्र जाप्यं च मध्यमा।
उत्तमा निगमो पूजा सोऽहं पूजा महात्मनः।।

प्रतिमाओं की पूजा निकृष्टतम कार्य है। स्तोत्रों का जपना मध्यम है। वेद के अनुसार परमात्मा की पूजा ही उत्तम है। महात्माओं के लिए 'सोऽहं' पूजा है।

4. तीर्थेषु पशु यज्ञेषु काष्ठ पाषाण मृण्मये।
प्रतिमायाँ मनोयेषां ते नरामूढं चेतसः।।

वे लोग महामूर्ख और अज्ञानी हैं जो तीर्थों में, पशु-यज्ञों में तथा लकड़ी, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में परमात्मा को ढूंढते हैं।

5. पाषाणैरालये बद्धः देवः पाषाण एवच।
ब्रूहि पण्डित! देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति।।

पत्थरों से निर्मित मन्दिर में बंधा बैठा यह देवता पत्थर ही है, हे मूर्तिपूजक पण्डित! यह तो बता तेरा देवता कहाँ बैठा है?

6. स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मतिः।
शिलामृत दारुं चित्रेषु देवता बुद्धि कल्पिता।।

हे दुर्मति मूर्तिपूजक! तू अपने घर में रक्खी खीर को छोड़ कर भीख की इच्छा करता है। तभी तो तूने पत्थर की शिला, मिट्टी, लकड़ी तथा चित्रों को देवता मान रक्खा है।

7. निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
निरालम्बवस्योपवीतं च, रम्यस्यामरणं कुतः।।

अरे निर्मल का स्नान कैसा? विश्वोदर के लिए वस्त्र कैसे? निरालम्ब के लिए यज्ञोपवीत कैसा? और रम्य के लिए आभूषण कैसे?

8. **निर्लेपस्य कुतो गन्धं पुष्पं निर्वासनस्य च ।**
निर्गन्धस्य कुतो धूपं स्वप्रकाशस्य दीपकम् ।।

निर्लेप के लिए गन्ध क्या ? निर्वसन के लिए पुष्प क्या ? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी ? स्वप्रकाशित के लिए दीपक दिखाना क्या ?

9. **नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः ।**
ताम्बूलं च विभोः कुत्र नित्यानन्दस्य दक्षिणा ।।

नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य क्या ? निष्काम के लिए फल कैसे ? विभु के लिए ताम्बूल कैसा ? और उस नित्यानन्द के लिए दक्षिणा का क्या काम ?

10. **स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजतं विधिः ।**
प्रदक्षिणाह्यनन्तस्य चाद्वितयस्य का नतिः ।।

स्वयं प्रकाश के लिए दीपक क्या दिखाना ? अनन्त की प्रदक्षिणा क्या करनी ? अद्वितीय को नमस्कार क्या करना ?

11. **अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।**
इयमेव परापूजा शम्भोः सत्यपरायणः ।।

जो भीतर और बाहर परिपूर्ण है उसके लिए विसर्जन कराना क्या ? परमात्मा की पूजा विधि यही है कि–

12. **देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः ।**
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ।।

इस शरीर को देवालय बनाओ और सनातन जीव को देवता समझो, अज्ञानरूप निर्माल्य को तजो और 'सोऽहं' भाव से पूजा करो ।

(18)

आदिशंकराचार्य और ईश्वर

इसी भाँति श्री शंकर स्वामी ने मूर्तिपूजा के भी मूल ईश्वर के साकारत्व (अवतारवाद) का अपने भाष्यों में स्थान-स्थान पर खण्डन किया है । वेदान्त भाष्य से कुछ उद्धरण हम यहाँ देते हैं–

नैकस्मिन्नसम्भवातु 2 ।2 ।33 (वेदान्त)

इस पर भाष्य करते हुए शंकर स्वामी कहते हैं–

नह्येक कस्मिन् धर्मणि युगपत् सदसत्वादि विरुद्ध धर्म समावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् ।।

एक वस्तु में एक ही समय में दो विरोधी गुण सर्दी गर्मी के समान नहीं रह सकते ।

भाव यह है कि इसी प्रकार साकारता और निराकारता दो विरोधी गुण एक साथ ब्रह्म में नहीं हो सकते ।

न स्थानतोपि परस्योभयलिंग सर्वत्र हि 3 ।2 ।11 (वेदान्त)?

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए शंकर जी लिखते हैं–

तत्रोभयलिंग श्रुत्यनुग्रहादुभ्यलिंग भवे ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः । न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मणः उभय लिंगत्वमुपपद्यते । नह्येकं वस्तु स्वतएव रूपादि विशेषोपेतं तद्विपरीत चेत्यवधरयितु शक्यं विरोधात् । ..... सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।

इस प्रश्न का कि उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप निराकार और साकार पाये जाते हैं, उत्तर शंकर स्वामी ने अपने इस भाष्य में दिया है, ब्रह्म के दो रूप नहीं हो सकते । ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें दो विपरीत गुण साकारता और निराकारता रहें क्योंकि यह दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं । ..... सब जगह ही ब्रह्म के रूप का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में ब्रह्म को शब्द, स्पर्श एवं रूप रहित और अव्यय, अविकारी ही कहा है ।

करणवच्चेत्र भोगादिभ्यः । वेदान्त सूत्र 2 ।2 ।40

शरीरत्वे सति संसारिवद् भोगादिप्रसंगादीश्वरस्यापि अनीश्वरत्वं प्रसज्येत्

शरीर सहित साकार होने पर, संसारी पुरुष के समान भोगादि के प्रसंग से ईश्वर होने पर उसमें भी अनीश्वरत्व हो जायेगा ।

(19)

आदिशंकराचार्य द्वारा सृजनसाहित्य

आदि शंकराचार्य जी के सम्बन्ध में चाहे जन्म काल की बात हो या जीवन की घटनाओं की अथवा ग्रन्थों की संख्या की सभी में विद्वानों में बड़ा मतभेद है । उनके द्वारा कुल कितने ग्रंथ लिखे गए हैं । इस संबंध में अलग-अलग विद्वानों ने भिन्न-भिन्न संख्याएँ दी हैं, कोई 400 तो कोई 300 कोई 240 तो कोई 120 के आसपास ग्रंथ आदिशंकराचार्य द्वारा लिखे गये बताते हैं । एक स्थान पर शंकराचार्य जी द्वारा रचित केवल स्तोत्रों की संख्या ही 240 बताई गई है । जो भी सूची शंकराचार्य जी द्वारा लिखित ग्रंथों की तैयार की जाती है, उनमें से बहुत से ग्रंथ ऐसे निकल आते हैं जिनके संदर्भ में विद्वानों को संदेह हो जाता है कि क्या वे ग्रंथ उनके द्वारा लिखे गए हैं? यही नहीं, अलग-अलग ग्रंथों में कई-कई रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनके नामों में बहुत ही कम अन्तर मिलता है जैसे निर्वाणष्टक और निर्वाण मंजरी, स्वात्म प्रकाशिका और स्वात्म निरूपणम् आदि । फिर भी कुछ ऐसे प्रसिद्ध ग्रंथों के नाम यहाँ दिए जा रहे हैं जिन्हें सामान्यतः शंकराचार्य द्वारा रचित माना जाता है । शंकराचार्य जी कृत मुख्य ग्रंथों को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जाता है ।

(क) भाष्य ग्रंथ –

आचार्य शंकर द्वारा लिखित भाष्यों में सबसे अधिक पांडित्य पूर्ण, प्रौढ़ और प्रमुख भाष्य प्रस्थानत्रयी का है। अपने समय में इस भाष्य ने देश भर में बहुत ही प्रसिद्धि पाई थी और सम्भवतः इस विषय पर यह पहला ही भाष्य था। इस भाष्य से ही देश के चोटी के विद्वानों ने शंकराचार्य जी की योग्यता, बुद्धि कौशल, तर्क-चातुर्य और भाषा सौन्दर्य की दृष्टि से लोहा माना था। स्वयं इनके परम गुरु गोड़पादाचार्य जी इस भाष्य को देखकर चकित रह गए थे। प्रस्थानत्रयी का भाव है कि आध्यात्मिक मार्ग का पथिक इन तीनों मार्गों से होकर ही ब्रह्म तक पहुँच सकता है।

(1) उपनिषद् भाष्य –

निम्नलिखित 11 उपनिषदों के भाष्य शंकराचार्य द्वारा लिखित माने गये हैं– 1. ईशोपनिषद्, 2. केनोपनिषद्, 3. कठोपनिषद्,4. प्रश्नोपनिषद्, 5. मुण्डकोपनिषद्, 6. माण्डुक्योपनिषद्, 7. तैतिरीयोपनिषद्, 8. ऐतरेयोपनिषद्, 9. छान्दोग्योपनिषद्, 10. बृहदारण्यकोपनिषद्,11. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

(2) गीता भाष्य –

यह भाष्य गीता के दूसरे अध्याय के 11वें श्लोक से आरम्भ होता है। भाष्य में बताया गया है कि गीता के अनुसार मोक्ष प्राप्ति केवल तत्त्व ज्ञान से ही होती है, ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं।

(3) ब्रह्मसूत्र –

ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन और फल का वर्णन किया गया है। इससे चार अध्याय हैं और हर अध्याय में 4-4 पाद हैं। चार अध्याय इस प्रकार हैं–(1) समन्वयाध्याय, (2) विरोधाध्याय, (3) साधनाध्याय और फलाध्याय। शंकराचार्य जी के इस भाष्य को शारीरिक भाष्य भी कहते हैं क्योंकि इसमें शरीर में वास करने वाली आत्मा के स्वरूप पर विचार किया गया है।

इसी प्रकार आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द जी कृत 'सत्यार्थप्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और 'संस्कारविधि' को भी प्रस्थानत्रयी के नाम से पुकारा जाता है। इन ग्रंथों का आर्य समाजियों के लिए वही महत्व है जो पौराणिक भाइयों में उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्र का है।

(4) अन्य भाव –

उक्त भाष्यों के अतिरिक्त आचार्य शंकर ने (1) सनत्सुजातीयभाष्यम्, (2) माण्डुक्योपनिषदकारिकाभाष्यम्, (3) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् भाष्यम्, (4) गायत्रीभाष्यम्, (5) विष्णु सहस्रनाम भाष्यम्, (6) ललितात्रिशतीभाष्यम्, (7) हस्तामलकस्तोत्रभाष्यम्, (8) कौषीतकी उपनिषद् भाष्यम्, (9) मैत्रायणीय उपनिषद भाष्यम्, (10) आध्यात्मपटल भाष्यम्, (11) संध्याभाष्यम्, (12) तत्वानुसन्धानम्भाष्यम् भी लिखे हैं। इनमें से 'माण्डुक्योपनिषद कारिका' गौडपादाचार्य जी का लिखा हुआ ग्रंथ है और इसका भाष्य उनकी आज्ञा लेकर उनके पास रहकर ही आचार्य शंकर ने लिखा था। इस भाष्य से गौड़पादाचार्य जी परम सन्तुष्ट हुए थे। 'हस्तामलकस्तोत्र' के संबंध में कुछ विद्वानों का कहना है कि हस्तामलक आचार्य ही के शिष्य थे और शिष्य की रचना पर गुरु के द्वारा भाष्य लिखना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। लेकिन आचार्य जी ने हस्तामलक को ब्रह्मज्ञानी मानकर जितना ऊँचा स्थान दिया था उसको देखते हुए अधिकतर विद्वानों का मत है कि आचार्य शंकर ने ही इसका भाष्य लिखा था। गायत्री, संध्या, केवल्य, महानारायण, आध्यात्मिक पटल आदि भाष्यों को भी शंकर रचित मानने में कुछ विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है।

(ख) स्तोत्र ग्रंथ–

आचार्य शंकर के नाम से 240 स्तोत्र छपे या हस्तलिखित रूप में पाए जाते हैं। शृंगेरी मठ के जगद्गुरु शंकराचार्य जी की अध्यक्षता में श्री वाणीविलास मुद्रणालय ने श्री शंकर रचित 64 स्तोत्रों की सूची

प्रकाशित की थी । शेष स्तोत्रों को आचार्य शंकर कृत मानने में उन्होंने सन्देह व्यक्त किया है ।

आदिशंकराचार्य रचित प्रमुख स्तोत्र इस प्रकार हैं– (1) शिवानन्दलहरी, (2) सौन्दर्यलहरी, (3) आनन्दलहरी, (4) गोविन्दाष्टक, (5) अन्नपूर्णाष्टक, (6) गंगाष्टक, (7) मणिकर्णिकाष्टक, (8) आत्माष्टकम्, (9) गणेशष्टकम्, (10) विष्णुनामाष्टकम्, (11) अम्बाष्टकम्, (12) पाण्डुरंगाष्टकम्, (13) शिवनामावल्यष्टकम्, (14) कालभैरवाष्टकम्, (15) अच्यताष्टकम्, (16) कृष्णाष्टकम्, (17) जगन्नायाष्टकम्, (18) यमुनाष्टकम्, (19) धन्याष्टकम्, (20) शिवनामाष्टकम्, (21) नर्मदाष्टकम्, (22) कामाक्षाष्टकम्, (23) त्रिपुरसुन्दर्यष्टकम्, (24) ललितसहस्त्रनामाष्टकम्, (25) दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्, (26) गुर्वष्टकम् स्तोत्रम्, (27) हरिमीडेस्तोत्रम्, (28) ब्रह्मनामावली स्तोत्रम्, (29) कोशिका स्तोत्रम्, (30) शिवपंचाक्षरस्तोत्रम्, (31) त्रिपुर सुन्दरी मानस पूजास्तोत्रम्, (34) श्री लक्ष्मीकरुणारस स्तोत्रम्, (35) नारायण स्तोत्रम्, (36) देव्यपराध्क्षमार्पण स्तोत्रम्, (37) शिवसर्वोत्तम स्तोत्रम्, (38) दत्तात्रेयसहस्त्रनाम स्तोत्रम्, (39) भवानीस्तोत्रम्, (40) चन्द्रशेखर स्तोत्रम्, (41) बिट्ठल स्तोत्रम्, (42) रामलक्ष्णम स्तोत्रम्, (43) अपराध भंजन स्तोत्रम्, (44) मीनाक्षी स्तोत्रम्, (45) त्रिपुरसुन्दरी स्तोत्रम्, (46) अर्द्धनारीश्वर स्तोत्रम्, (47) श्री द्वादशलिंग स्तोत्रम्, (48) श्री शिवकेशादिपादान्त स्तोत्रम्, (49) श्री शिवपादानिकेशान्त स्तोत्रम्, (50) श्री वेदसार शिव स्तोत्रम्, (51) उमामहेश्वर स्तोत्रम्, (52) मृत्युंजय मानस पूजा स्तोत्रम्, (53) श्रीराम भुजंगप्रयास स्तोत्रम्, (54) श्री विष्णुभुजंगप्रयात स्तोत्रम्, (55) श्री विष्णुपादादि केशान्त स्तोत्रम्, (56) एकश्लोकी, (57) त्रिश्लोकी, (58) चतुश्लोकी, (59) सप्तश्लोकीगीता, (60) दशश्लोकी, (61) द्वादश पंजरिका, (62) मनीषा पंचकम्, (63) यति पंचकम्, (64) सोपन पंचकम्, (65) काशीपंचकम्, (66) गणेशपंचरत्नम्, (67) ललिता पंचरत्नम्, (68) आत्मपंचकम्, (69) कोपीपंचकम्, (70) वैराग्यपंचकम्, (71) साधनापंचकम्, (72) उपदशपंचकम्, (73)

माया पंचकम्, (74) हनुमत पंचकम्, (75) मीनाक्षीपंचरत्नम्, (76) गणेश भुजगंम, (77) शारदा भुजंगम्, (78) भवानी भुजंगम, (79) सुब्रह्मण्यं भुजगंम, (80) देवी भुजंगम्, (81) शिवभुजंगम, (82) शिवमानस पूजा, (83) विष्णुमानस पूजा, (84) चतुः पद्यपचार, (85) भवानीमानसपूजा, (86) भगवन्मानस पूजा, (87) षटपदि, (88) कनकधारा, (89) स्वात्मनिरुनणम्, (90) विज्ञाननौका, (91) निर्वाणदशकम्, (92) बालवोधनी, (93) हरिनाममाला, (94) प्रश्नोत्तरनामावलिः, (95) नक्षत्रमाला, (96) गौरीदशक, (97) निगम चूड़ामणि, (98) मंत्रमातृकापुष्पमालास्तवम्, (99) ललितास्तवराजः, (100) त्रिवेणीस्वतः, (101) नीलकण्ठशैवसंवाद, (102) सुवर्णमाला स्तुति, (103) श्रीहरि स्तुति ।

(ग) प्रकरण ग्रंथ –

इन ग्रंथों में वेदान्त तत्त्व का प्रतिपादन किया गया हैं वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमनादि साधन सम्पत्ति की विवेचना से युक्त अनेक छोटे-छोटे ग्रंथ आचार्य शंकर द्वारा लिखे मिलते हैं। सर्वसाधारण को अद्वैत के उपदेशों के परिचित कराने के लिए इन प्रकरण ग्रंथों का निर्माण किया गया है। माना गया है कि शंकराचार्य जी ने 39 प्रकरण ग्रंथ लिखे हैं। परन्तु सभी विद्वानों की सहमति सभी ग्रंथों के लिए नहीं है। कुछ ग्रंथों को कुछ विद्वान् इनके द्वारा लिखे हुए नहीं मानते। प्रमुख प्रकारण ग्रंथ निम्नलिखित हैं–

(1) अपरोक्षानुभूति – यह रचना अपरोक्षानुभवामृत से भिन्न है।

(2) आत्बोध-गीर्वाणेन्द्र के शिष्य बोधेन्द्र के ''भाव.प्रकाशिका'' नाम से इसकी टीका लिखी है।

(3) उपदेश साहसी – इसको सकल वेदोपनिषत्सारोपदेश साहस्री भी कहा जाता है। यह ग्रंथ गद्य और पद्य अर्थात् यह अभयप्रबन्ध है।

(4) पंचीकरण प्रकरण – यह गद्य में लिखा गया है। इसमें पंचीकरण का विवरण दिया गया है।

(5) प्रबोध सुधाकर – इस ग्रंथ में 257 आर्याएँ हैं ।

(6) वाक्यवृत्ति – इस ग्रंथ में 53 श्लोकों में 'तत्' और 'त्व' पदों के अर्थ दिए गए हैं ।

(7) लघुवाक्यवृत्ति – इसमें 18 अनुष्टुप पद्यों में ब्रह्म और जीव के एक्य का वर्णन किया गया है ।

(8) विवेक चूड़ामणि– यह ग्रंथ अत्यन्त प्रौढ़ एवं सुन्दर रचना है । इसमें 531 पद्य दिए गए हैं ।

(9) शतश्लोकी – इसमें 100 लम्बे-लम्बे श्लोक दिए गए हैं ।

(10) सर्ववेदान्तसिद्धान्त सार संग्रह– इस ग्रंथ में षड्दर्शनों तथा अवैदिक दर्शनों का वर्णन किया गया है । कुछ विद्वान् इस ग्रंथ को आचार्य जी द्वारा लिखित नहीं मानते । क्योंकि इसमें पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा और देवता काण्ड को एक ही शास्त्र माना है । जबकि शंकराचार्य जी पूर्व और उत्तर मीमांसाओं को अलग-अलग मानते हैं ।

(11) प्रपंचसार– इस रचना में 'प्रपंचागम्' नामक प्राचीन तंत्र का सार दिया गया है । श्री अमलानन्द ने 'कल्पतरु' में इस ग्रंथ को आचार्य जी का लिखा हुआ माना है । श्री पद्मपाद ने भी इस ग्रंथ को आचार्य जी द्वारा लिखित ही माना है । इन्होंने 'विवरण' नाम से इसकी टीका भी लिखी है ।

कुछ अन्य प्रकरण इस प्रकार है–

(12) चपेट पंचारिका, (13) अद्वैतपंचरत्नम्, (14) निर्गुणमानस पूजा, (15) अद्वैतानुभूति, (16) योगतारावृत्ति, (17) वेदान्तसार, (18) अद्वैत कोस्तुयम्, (19) वेदान्तमुकावलि, (20) तत्त्वबोध, (21) तत्त्वोपदेश, (22) महावाक्य विवरणम्, (23) वाक्यवृत्ति दर्पणम्, (24) महावाक्य विवेक, (25) वाक्यवृत्ति मध्यमः, (26) आत्मचिन्तनम्, (27) त्रिवेकादर्शः (28) सिद्धान्त विन्द्रः, (29) मोहमुद्गर, (30) राजयोग, (31) अमरूकशतकम् ।

(20)

आदिशंकराचार्य के दार्शनिक विचार

आचार्य शंकर ने अपनी छोटी सी आयु में ही अनेक पाण्डित्यपूर्ण भाष्यों की रचना बहुत से सरस एवं सरल स्तोत्रों का सृजन, काफी मात्रा में प्रकरण ग्रंथों का प्रणयन, सम्पूर्ण देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक 3 बार भ्रमण, देश के चारों कोनों में हिन्दू धर्म के प्रचारार्थ 4 मठों की स्थापना, विभिन्न अवैदिक मतों का प्रबल खण्डन, सभी मत-मतान्तरों को एक साथ मिलाकर सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और धार्मिक एकात्मता का निर्माण, वेदान्त का व्यापक प्रचार आदि असाधारण कार्य करके अपनी प्रकाण्ड विद्वता, अद्‌भुत साहित्य, सृजनक्षमता, कुशल तार्किकता, अद्वितीय संगठनकर्ता और अतुलनीय योग्यता का परिचय सम्पूर्ण देश को दिया था।

मूलतः ''जगन्मिथ्या'' सिद्धान्त के प्रतिपादक होते हुए भी वे उच्च कोटि के समाज स्रष्टा और समाज सेवी रहे,''अभेद ज्ञान मूलक ब्रह्मवाद'' के प्रवर्तक होते हुए भी वे भक्ति भाव से विभोर कर देने वाले स्तोत्रों के रचयिता भी रहे,उच्च कोटि के दार्शनिक विद्वान् होते हुए भी वे माँ की वत्सलता और गुरु की आत्मीयता के सदा कायल रहे– उनके मोह से चाहते हुए भी वे अपने को अलग न रख पाए– निवृत्ति मार्गी होते हुए भी वे जीवन भर सामान्यजन से जुड़े रहे अर्थात् सैद्धान्तिक दृष्टि से अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहार से वे द्वैतवादी से प्रतीत होते रहे क्योंकि आध्यात्मिक सत्ता की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने व्यावहारिक सत्ता को महत्व दिया है। आचार्य जी ने जीवन पर्यन्त अलग से अपने कोई सिद्धान्त निरुपित नहीं किए। वे तो वेदान्त में निरुपित सिद्धान्तों की व्याख्या करके उन्हें ही प्रचारित करते रहे। उनमें उनका अपना कुछ नहीं था। हाँ, यह अवश्य था कि वेदान्त

के सिद्धान्त जो कि अत्यन्त दुष्कर, दुर्बोध और दुर्गम माने जाते थे, को उन्होंने अपनी बुद्धि और हृदय की सम्मिलित खराद पर चढ़ाकर अत्यन्त ही सरस, सरल और सहज बना कर सुन्दर भाषा में सभी के सम्मुख इस रूप में प्रस्तुत किया कि वे सब को ग्राह्य हो गए। जैसे–

(1) ''पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने की स्थिति में व्यक्ति में सांसारिकता नाम को भी नहीं रहती, वह पवित्रात्मा बन जाता है'' आचार्य शंकर ने इस भाव को कितने सरल ढंग से कहा है–

वयसि गतः कः काम विकारः, शुष्के नीरे कः कासारः।

क्षीणे वित्ते कः परिवारा, ज्ञातेतत्वे का संसारा।।

विश्व के दार्शनिकों में सम्भवतः केवल और शंकराचार्य जी ही ऐसे थे जिन्होंने दर्शन जैसे नीरस विषय को कविता की कोमल-कान्त पदावली से ध्वनित किया। उनके पास अद्‌भुत ज्ञान से युक्त मस्तिष्क के साथ-साथ सरस कवि-हृदय भी था। आचार्य शंकर की रचनाओं में भाषा का चमत्कारिक सौन्दर्य दर्शनीय है। उसमें स्थान-स्थान पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग जैसे अर्थालंकार ही नहीं अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों की अद्‌भुत छटा भी देखने को मिलती है। उनकी कविता की एक-एक पंक्ति और पंक्ति ही नहीं एक-एक शब्द और शब्द ही नहीं एक-एक अक्षर इस ढंग से सजाए गए हैं, संजोए गए हैं और पिरोए गए हैं कि वे दर्शन के रेगिस्तान में हरित भूमि बन कर बरबस ही नीरस मन को भी अपनी ओर खींच लेने में या मोह लेने में समर्थ हैं। उनमें कठिन-से-कठिन दार्शनिक विषय को सरल-से-सरल और मोहक से मोहक ढंग से प्रस्तुत करने की अद्‌भुत क्षमता थी।

(2) जीवन मुक्त होने के लिए प्राणी को अनेक सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। इस स्थिति को पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, लेकिन शंकराचार्य जी ने कितनी सरल और आकर्षक भाषा में व्यक्त किया है जैसे–

सत्संगत्वे निस्तंगत्वं, निस्सगत्वे निर्मोहत्वम्

निर्मोहित्वे निःश्चलतत्वम्, निश्चलतत्वे जीवनमुक्ति ।।

जिस ब्रह्मवाद की विजय पताका उन्होंने सम्पूर्ण देश में फहराई थी उसमें उनका अपना नया कुछ भी नहीं था, वह तो सब कुछ पहले से ही वेदों और उपनिषदों में विद्यमान था । उन्होंने तो यत्र-तत्र बिखरे हुए वेद वाक्यों को अद्वैत में पर्यावसित करके कर्म और उपासना की धाराओं को उसमें मिलाकर गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम जैसा बना दिया है । आचार्य जी ने उपक्रम और उपसंहार आदि से प्रकरण का अर्थ निकाला और ज्ञान, उपासना (भक्ति) और कर्म को यथा स्थान प्रतिष्ठित कर पाया । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उन्होंने कर्म और ज्ञान को उपासना (भक्ति) के सेतु से मिला दिया है । कुछ लोग भ्रमवश इसे ही शंकर सिद्धान्त कह कर नवीन मार्ग बताते हैं जबकि यह कोरी भ्रान्ति ही है ।

वेदान्त में प्रतिपादित शुद्ध ब्रह्मवाद ही उनका सिद्धान्त था । वेदान्त में केवल ब्रह्म की ही सत्ता को माना गया है । 'तत्वमसि' इसी वास्तविकता का बोध कराता है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म और जीव की पृथक्-पृथक् सत्ताएं नहीं हैं । शंकर प्रकृति, जीव और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् नहीं मानते । उनके अनुसार माया के कारण ही ब्रह्म विविध नामों और रूपों में प्रतिभासित होता है । जीव अपने अज्ञान के कारण ही बन्धन में पड़ा है । जब तक जीव के अज्ञान का निवारण नहीं होता जीव बन्धन से मुक्त नहीं होता ।

अज्ञान के कारण ही जीव, देह आदि को, जोकि जड़ पदार्थ हैं, अपनी आत्मा समझता है और अनेक योनियों में भटकता है । अज्ञान का निवारण ज्ञान से ही होता है । अंधकार में रज्जू को सर्प समझकर अज्ञान-जनित भय के कारण वह भयभीत हो जाता है । किन्तु अंधकार के समाप्त होने पर अर्थात् प्रकाश होने पर रज्जू की वास्तविकता प्रकट

हो जाने से उसका भय समाप्त हो जाता है । इसी प्रकार से आत्मज्ञान हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार करके जीव भय रहित हो जाता है । मैं ही ब्रह्म हूँ– इसका ज्ञान होने से सम्पूर्ण अज्ञान और अज्ञानकृत समस्त भय और दुःखों का निवारण हो जाता है । स्पष्ट है कि मुक्ति ज्ञान से ही होती है । ''तत्वमसि'', अयमात्मा ब्रह्म'',''प्रज्ञानं ब्रह्म'',''अहम् ब्रह्मास्मि'' आदि वैदिक महावाक्यों द्वारा अखंड, शुद्ध ब्रह्म-अभिन्न आत्म रूप का साक्षात्कार करना ही जीव का प्रथम लक्ष्य है । यही उपनिषद् और शंकरसिद्धान्त है ।

आत्मा और ब्रह्म का एक्य श्रुति प्रतिपादित है । यह ज्ञान किसी भी ज्ञान से बाधित नहीं होता । क्योंकि श्रुति से प्रबल अन्य कोई प्रमाण नहीं है और जब वही अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर रही है, तब उस सिद्धान्त के बाधित होने का प्रश्न ही नहीं रहता । आचार्य शंकर कर्म, उपासना (भक्ति) और ज्ञान को उत्तरोत्तर विकास की सीढ़ी मानते हैं । उनके विकास का क्रम कर्म से ज्ञान की ओर है अर्थात् कर्म और उपासना (भक्ति) के बाद ही ज्ञान की स्थिति आती है और ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है । कर्म फल चार प्रकार के होते हैं–

1. उत्पाद्य – किसी कर्म से हुई उत्पत्ति ही उत्पाद्य है । जैसे कृषि कर्म से अन्नोत्पादक होता है ।

2. प्राप्य – किसी कर्मद्वारा जिसे प्राप्त किया जाता है, वह प्राप्य है । वस्तु के विद्यमान होने पर भी यदि वह उपलब्ध न हो और उसको प्राप्त करने के लिए कर्म किया जाए तो उस कार्य का फल प्राप्य होता है ।

3. संस्कार्य – आत्मा से मल निवारण के लिए किए गए कर्म का प्रतिफल संस्कार्य है । जैसे नित्य – नैमित्यिक कार्य । इनके करने से आत्मा निर्मल हो जाती है ।

4. विकार्य – वस्तु से विकार का निवारण करने के लिए किए गए कार्य का फल विकार्य है । जैसे भ्रमवश रस्सी में सर्प का बोध होने

पर प्रकाश के माध्यम से वास्तविक रस्सी का ज्ञान होना विकार्य होता है।

लेकिन आत्मज्ञान की प्राप्ति इन चारों प्रकार के कर्मों से नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा के नित्य होने से न तो वह उत्पाद्य ही होती है और न ही प्राणी का स्वरूप निश्चित् होने से सभी को प्राप्त होने के कारण वह प्राप्य है। आत्मा सदा निर्मल है इसलिए उसे पाने को संस्कार्य नहीं करने पड़ते। वह निर्विकार है अतः उसके विकार निवारण के लिए कुछ करने का प्रश्न ही नहीं। उपासना (भक्ति) एक मानसिक क्रिया ही है। अतः इससे भी मुक्ति नहीं मिलती। उपासना सदा उसकी की जाती है जो सामने विद्यमान नहीं हो। जो सामने विद्यमान है उसकी उपासना नहीं, उसके तो दर्शन किए जाते हैं। किसी प्रतीक में उपास्य का ध्यान करना उपासना है। ध्यान से एकाग्रता आती है। एकाग्रता से उपास्य के अनुरूप फल भी मिलता है लेकिन मुक्ति नहीं मिलती।

मुक्ति तो ज्ञान से ही मिलती है लेकिन ज्ञान का विधान पूर्ण विरक्त और शुद्ध मन वालों के लिए ही है। ज्ञान इस सोपान की अन्तिम सीढ़ी है और हर व्यक्ति की पहुँच वहाँ तक नहीं होती। व्यक्ति के तीन प्रकार के वर्ग माने गए हैं– एक वह जो विषयों में आसक्त हैं, दूसरे वे जो न अधिक आसक्त है और न अधिक विरक्त और तीसरे वे जो पूर्ण विरक्त हैं। इनमें से प्रथम वर्ग के लिए अर्थात् सामान्य जन के लिए कर्म का विधान है। वर्णों और आश्रमों के लिए विहित कर्मों का अनुष्ठान ही उसके लिए श्रेष्ठ मार्ग है। इस मार्ग पर चलने से धर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म की उत्पत्ति से पाप-नाश होते हैं। पापों के नष्ट हो जाने से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर संसार के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। इस बोध के हो जाने पर व्यक्ति के मन में वैराग्य की भावना आ जाती है। वैराग्य से मन और इन्द्रियों का निग्रह होता है। इससे व्यक्ति के मन में आसक्ति की भावना कम हो जाती है। आसक्ति के कम हो जाने से कर्म का

परित्याग होकर उपासना (भक्ति) आ जाती है। शंकर ने उपासना (भक्ति) को ज्ञान की भूमिका माना है।

मोक्ष साधन सामग्रयाम भक्तिरेव गरीयसी

उपासना (भक्ति) के बाद मन पूर्णतः शुद्ध और विरक्त हो जाता है। तभी ज्ञान की स्थिति आती है एवं उससे ही ब्रह्म का साक्षात्कार या आत्मबोध होता है। कोई भी व्यक्ति सोपान की अन्तिम सीढ़ी से ही मकान के अन्दर प्रवेश कर सकता है। प्रथम से नहीं? इसी प्रकार मुक्ति ज्ञान से ही होती है कर्म से नहीं। आचार्य जी गीता भाष्य में कहते हैं कि –

तस्मिन गीता शास्त्रे, दूषण मात्रेणापि श्रोते न स्मार्तनेन,

कर्मणा आत्म ज्ञानस्य समुच्चर्यो न केनाचित दर्शापिऽतुम शक्य

लेकिन पहली सीढ़ी चढ़े बिना अन्तिम तक पहुँचा नहीं जा सकता। अतः कर्म भी आवश्यक है। शंकर के अनुसार कार्य बन्धन से मुक्त होकर भक्ति सम्पन्न होने पर ही ज्ञान की चरम स्थिति सम्भव है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कर्म से मुक्ति न होने पर भी मुक्ति के लिए कर्म की आवश्यकता है। यद्यपि शंकर ने सदा श्रुति प्रमाण पर ही बल दिया है फिर भी उन्होंने श्रवण, मनन और तर्क के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं भी विभिन्न मत-मतान्तरों का खण्डन करने में तर्क का बड़ा सहारा लिया है। अपनी अपरिमित तार्किक शक्ति के बल पर ही उन्होंने बड़े से बड़े विद्वान् की बातों को काटा है। लेकिन उनके सभी तर्क श्रवण और मनन पर आधारित रहे अर्थात् उन्होंने जो कुछ भी कहा वह श्रुति-स्मृति (वेद-वेदान्त) सम्मत ही था। उन्होंने कुछ भी नया नहीं कहा। मात्र पुरानी चीज को ही सही ढंग से सबके सामने प्रदर्शित करा दिया है। उन्होंने किसी नए मार्ग का निर्माण नहीं किया था। वे तो मात्र पथ-प्रदर्शक थे।

(21)

आदिशंकराचार्य का भारतीय जन-जीवन पर प्रभाव

आचार्य शंकर बहुत ही योग्य, आकर्षक और सशक्त व्यक्तित्व के स्वामी थे। उन्होंने जीवन में जितने भी कार्य किए उन्हें अत्यन्त कुशल ढंग से, अद्वितीय रूप में और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से सम्पादित किया। यही कारण है कि अपनी अल्प आयु में ही वे इतने अधिक और प्रभावी कार्य सम्पन्न कर सके कि देश में चतुर्दिक उनका प्रभाव फैल गया। उन्होंने अपने कार्य-कलापों से यह सिद्ध कर दिया कि लक्ष्य सिद्धि के लिए आयु, काल और अवधि किसी का भी इतना महत्व नहीं है जितना लगन, परिश्रम और योग्यता का है। ऐसे मनीषियों को कभी सहयोग और सहायता की अपेक्षा नहीं रहती है। ऐसे लोगों को तो जो कुछ भी करना है उसे हर समय, हर स्थिति में और हर प्रकार से कर ही लेना है। उनके समक्ष उद्देश्य की पूर्ति निमित्त प्रत्येक क्षण कार्य, कार्य और कार्य करना ही मुख्य रहता है अन्य कुछ नहीं।

आचार्य जी के कार्यों का हमारे धर्म, समाज, संस्कृति और राष्ट्र पर बड़ा ठोस और दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा है। उसका मुख्य कारण उनकी उद्दाम राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत और सम्पूर्ण देश में एकात्मता स्थापित करने की भावना, प्रखर ज्ञान-प्रतिभा के आधार पर सभी प्रकार की समस्याओं का समुचित निदान करने और तर्कों का यथोचित उत्तर देने की क्षमता, विभिन्न मत-मतान्तरों में प्रेम और सद्भाव से समुचित समन्वय लाने की प्रक्रिया और परम्परागत वैदिक सिद्धान्तों को विवेकपूर्ण आधार पर जनता के सामने लाकर उनको स्वीकार करा लेने की दृढ़ता में निहित था। उन्होंने देश के जन-जीवन को हर दृष्टि से प्रभावित किया है।

आचार्य जी ने अपना कार्य आरम्भ करने से पूर्व ही देश की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि स्थितियों का पूरी

तरह से अध्ययन कर लिया था । उन्होंने देख लिया था कि–

– धार्मिक दृष्टि से बौद्ध और जैन दोनों ही मत वैदिक सनातन धर्म के प्रति विरोध की भावना फैला रहे थे । वे वेदों के प्रति अविश्वास और यज्ञों में होने वाली हिंसा का प्रचार बड़े जोर-शोर से कर रहे थे । बौद्ध मत वाले राज सत्ताओं और जैनमत वाले धनाड्य वर्ग के सहयोग से समाज के काफी बड़े और प्रभावी वर्ग को अपने साथ लेकर चलने में समर्थ हो गए थे । वेदों में विश्वास और आस्था रखने वालों में परस्पर आन्तरिक क्लेश, द्वेष और शत्रुता विद्यमान थी । पूजा पद्धतियों और उपासना विधियों में अन्तर होने से गाणपत्य, शैव, शाक्त, वैष्णव, सूर्योपासक आदि एक दूसरे का विरोध करके अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने में रत थे ।

– सामाजिक दृष्टि से चारों ओर वर्ण, वर्ग, मत, क्षेत्र, भाषा, आदि के आधार पर परस्पर विरोध और वैषम्य फैल रहा था । समाज में एकात्मता की भावना का पूरी तरह से लोप था ।

– कुमारिल भट्ट जैसे महान् व्यक्ति के खण्डन और अपने ही भिक्षुओं के दुष्कर्मों के फल स्वरूप बौद्ध मत की स्थिति में निरन्तर दुर्बलता तो आती जा रही थी फिर भी उस समय समाज में उनका प्रभाव पर्याप्त अधिक मात्रा में था । इसका श्रेय बौद्धों की अपूर्व संगठन कुशलता को था । देश भर में उनके विहारों, स्तूपों और चैत्यों का जाल बिछा हुआ था । जहाँ से निरन्तर बौद्ध मत के सिद्धान्तों का प्रचार होता रहता था । तथागत को ईश्वर का स्वरूप मान लेने से उनके प्रति लोगों की श्रद्धा और विश्वास को आकर्षित करा लेने में बौद्ध मत वालों को काफी सहायता मिली थी ।

– राजनीतिक दृष्टि से देश अनेकता में बँटा हुआ था। छोटे-छोटे राज्य यत्र-तत्र अपने महत्व की स्थापना में लगे हुए थे। सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता का लक्ष्य किसी के सामने नहीं था। अपनी-अपनी मूछें ऐंठने में लगे हुए थे।

– बौद्धिक दृष्टि से संतों, महंतों में ही नहीं सामान्य जनता में भी सिद्धान्त और व्यवहार में बड़ा अन्तर आ गया था।

– नैतिकता नाम को भी नहीं रह गई थी। लोगों में दम्भ, पाखण्ड और दिखावे की भावना प्रबल रूप में विद्यमान थी।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस समय आदिशंकराचार्य जी ने अवतरित होकर देश में अपना कार्य आरम्भ किया था उस समय विभिन्न प्रकार के षड़यन्त्र, संघर्ष और द्वन्द्व हमारे धर्म, समाज, संस्कृति और राष्ट्र को चुनौती दे रहे थे। वे हमारी एकता को छिन्न-भिन्न करने को पूरी तरह से तत्पर थे। शंकराचार्य जी ने सम्पूर्ण स्थितियों की गहराई में जाकर उनका ज्ञान प्राप्त करके अपने लिए एक निश्चित् कार्य-योजना बनाई और उस पर दृढ़ता से चल पड़े।

उन्होंने अपने कार्य करने के लिए जो मार्ग अपनाया वह खण्डनात्मक नहीं मण्डनात्मक था। उन्होंने किसी की भी श्रद्धा और विश्वास का खण्डन नहीं किया वरन् उन्होंने सभी प्रकार के अन्तः विरोधों को राष्ट्रीयता की कसौटी पर घिस कर एक नए परिवेश में प्रस्तुत किया जिसमें सभी को अपनापन दिखाई दिया। उनका यह भी मानना था कि सभी धर्मों और उपासना पद्धतियों का निर्माण मनुष्य-जीवन को ऊँचा उठाने, उसे समृद्ध करने और उसे उद्दात बनाने के लिए ही किया गया है। अतः मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उन्होंने समय की आवश्यकता के अनुरूप सभी में समान रूप से राष्ट्रीय एकात्मता की भावना भरने का कार्य किया। उन्होंने विभिन्न मत-मतान्तरों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के मूल में निहित सत्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि सबको उसमें समरसता दिखने लगी। आचार्य जी ने वेदान्त द्वारा प्रतिपादित

अद्वैत के आधार पर एकता के मसाले से धर्म, समाज, संस्कृति और राष्ट्र के भवन का जीर्णोद्धार एवं पुनर्निर्माण किया। इस निमित्त उन्होंने निम्नलिखित रूप में कार्य किये।

(1) धार्मिक स्तर पर राष्ट्रीय एकता

अद्वैत के आधार पर ही उन्होंने गाणपत्य, शैव, शाक्त, वैष्णव और सूर्योपासकों की 5 प्रकार की उपासना पद्धतियों को एकात्मता प्रदान करके एक साथ मिला दिया। इसके लिए उन्होंने पंचायतन-पूजा की ऐसी विधि निकाली जो आज तक अनेक हिन्दू-गृहों में विद्यमान है। पूजा की इस पद्धति में अलग-अलग आराध्य देवों यथा गणपति, शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और कार्तिकेय की पूजा भारत के अलग-अलग स्थानों में संकलित पृथक्-पृथक् पाषाण खण्डों के रूप में की जाती है। भारत के कोने-कोने से संकलित भिन्न-भिन्न पाषाण खण्डों के रूप में अलग-अलग देवताओं की पूजा के इस सिद्धान्त से उन्होंने देशभर में एक-एक घर के व्यक्ति-व्यक्ति में एकात्मता के बीज बो दिए।

इससे राष्ट्रीय एकात्मता को बड़ा ही सुदृढ़ आधार मिला। कांची कामकोटि पीठ के परमाचार्य चन्द्रशेखर सरस्वती के अनुसार बिहार में बहने वाली 'सोन' नदी से प्राप्त लाल पत्थर में गणपति, मध्य भारत में बहने वाली नर्मदा के ओंकार कुण्ड से प्राप्त पाषाण खण्ड में शंकर, आन्ध्र प्रदेश में बहने वाली स्वर्णमुखी नाम की नदी से प्राप्त स्वर्णमुखी पाषाण में शक्ति, हिमालय क्षेत्र में बहने वाली गन्डकी से प्राप्त काले पत्थर-शालिग्राम में विष्णु, तमिलनाडु के विल्लभ में सुलभ बिल्लौर पत्थर से सूर्य की कल्पित मूर्ति की पूजा में कार्तिकेय की मूर्ति को सम्मिलित करके पूजन गृह में धर्म के माध्यम से राष्ट्रीय एकता लाई गई है।

इस पूजा का जो सबसे महत्वपूर्ण पहलू है वह है निराकार और साकार के बीच की स्थिति में व्यक्ति को पहुँचाना। इन पाषाण खण्डों में संबंधित देवता की परम्परागत मूर्ति का अभाव होता है जैसे गणेश

के रूप में पूजित पत्थर में गणेश की सूंड, दांत आदि नहीं होते यानी वह आकार रहित-निराकार होता है किन्तु चट्टानी बनावट की विशेषता के कारण पाषाण खण्ड विशेष में गणेश के प्रतीक की कल्पना के आधार पर वह साकार भी है अर्थात् पाषाण खण्डों के पूजन से यह निराकार और साकार के बीच की स्थिति आ जाती है। दूसरे शब्दों में ईश्वर निराकार होते हुए भी साकार है और साकार होते हुए भी निराकार है। शंकराचार्य जी के अनुसार इसे ऐसा भी माना जा सकता है कि पाषाण खण्डों में आकार-प्रकार कुछ भी हो किन्तु वास्तविकता यही है कि वह पाषाण है अर्थात् नाम कुछ भी क्यों न हो सब में सत्य एक ही है– अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है।

(2) सामाजिक स्तर पर राष्ट्रीय एकता

धार्मिक क्षेत्र में एकात्मता के साथ सामाजिक स्तर पर भी आचार्य शंकर ने एकात्मता स्थापित करने का प्रयास किया और वह भी मात्र नीति वचनों से नहीं वरन् अभ्यास द्वारा। पं० जवाहर लाल नेहरु ने अपनी पुस्तक 'भारत एक खोज' में लिखा है कि उन्होंने (शंकर ने) न केवल विभिन्न विरोधों के सागर को स्वयं ही पार किया अपितु अनेक अन्य लोगों को भी इस लक्ष्य को पाने में सहयोग दिया। अर्थात् उन्होंने व्यष्टि को नहीं समष्टि को महत्व दिया। इसके लिए उन्होंने एकान्त में बैठकर तपस्या करने के स्थान पर विस्तृत फैले कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने देश में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक यात्राएं करके और चार कोनों में चार मठों की स्थापना करके अलग-अलग क्षेत्र के भिन्न-भिन्न स्तर के व्यक्तियों तथा बुद्धिजीवियों, दार्शनिकों, धर्माचार्यों और सामाजिक नेताओं से चर्चा करके इस देश के जन सामान्य में एक राष्ट्र और एक संस्कृति की भावना पैदा की। इन सब कार्यों के दौरान उन्होंने अपनी विचारधारा के द्वार सदा उन लोगों के लिए खुले रखे जो उसमें प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हों। उन्होंने सत्य के खोज के लिए कुछ नियम बनाए थे

और जो उन नियमों को पूरा करता हो उसे उनकी विचारधारा में सम्मिलित होने का पूरा अधिकार था ।

आचार्य जी में निर्भीकता, निष्कपटता और साहस उच्चकोटि का था । उन्होंने जो भी कार्य किए थे विरोधों की चिन्ता न करते हुए डट कर किए । सामाजिक स्तर पर एकता लाने के लिए उन्होंने अनेक प्राचीन मान्यताओं का उल्लंघन जैसे आत्मज्ञानी चाण्डाल की गुरु मान कर पूजा की, संन्यासी होते हुए भी माँ का दाह संस्कार किया, संन्यासी होते हुए भी पिता का श्राद्ध सम्पन्न करते समय ही मण्डन मिश्र जैसे कर्मकाण्डों के सामने पहुँच गए । बौद्धों के अनेक सिद्धान्तों को ही नहीं मिलाया स्वयं गौतम बुद्ध को भगवान् का अवतार मानकर दस अवतारों में से एक माना आदि । लेकिन ये सभी कार्य सामाजिक जीवन पर तीव्र विरोधी आक्रमण के रूप में नहीं किए गए बल्कि आध्यात्मिक आधार पर शान्तिपूर्वक तथा अधिक विवेकी ढंग से सम्पन्न किए गए ।

अद्वैत दर्शन के आधार उन्होंने मनुष्य और मनुष्य में, जीव और जीव में, ब्रह्म और जीव में अन्तर मानते हुए समाज में सबकी बराबर की स्थिति को माना है । किसी को भी किसी के द्वारा अपमानित किया जाना उन्हें सहन नहीं था चाहे वे उनके प्रिय शिष्यगण ही क्यों न हों । शिष्यों द्वारा गिरि जैसे जड़ दिखने वाले शिष्य का अपमान उन्हें बड़ा अखरा था । उन्होंने उसमें परम योग्यता उत्पन्न करके उसे त्रोटकाचार्य बता दिया । बाद में उन्हें ही मठाधीश बना देने में उनके हृदय की उदाता और अनुकम्पा की भावना की तीव्रता परिलक्षित है ।

सांस्कृतिक स्तर पर राष्ट्रीय एकता

इस दृष्टि से सबसे बड़ा कार्य गौतम बुद्ध को विष्णु के 10 अवतारों में से एक मान लेने का हुआ है । इसी आधार पर देश के समस्त बौद्ध मतावलम्बी वैदिक (हिन्दू) संस्कृति में समाहित हो गए । सभी प्रकार के विरोधों के चलते हुए भी आदि शंकराचार्य जी ने अपने मस्तिष्क के लचीलेपन और मूल्य सापेक्षता की भावना, हृदय की

वास्तविक उदारता और चरित्र की दृढ़ता के बल पर बौद्धमत के अनेक सिद्धान्तों को अपने से मिला लिया। भले ही कुछ लोगों ने उन्हें इस कार्य के लिए 'प्रच्छन्न बौद्ध' की उपाधि से ही अलंकृत क्यों न किया हो। उन्होंने बौद्धमत के भ्रातृ सुलभ आलिंगन द्वारा अपने सिद्धान्तों में न केवल रहस्यवाद को सम्मिलित कर लिया वरन् उनकी अनेक प्रथाओं को भी मिला लिया। पशु बलिदान की निन्दा को भी उन्होंने अपना लिया था।

अनेक विद्वानों का तो यहाँ तक कहना था कि शंकराचार्यजी ने बुद्ध के माया और निरन्तर बहाव के दार्शनिक सिद्धान्तों को भी अपना लिया है। लेकिन उन्होंने जो कुछ भी लिया है वह लिया परम्परागत आधारों पर ही है। स्वामी रंगनाथनन्द का कहना तो यह भी है कि यदि बुद्ध की शिक्षाओं के आधार पर ही चलता रहता अर्थात् उन चार सत्यों और महान् अष्ट मार्गों पर ही चलता रहता तो शंकर को जन्म लेने की आवश्यकता ही नहीं थी। किन्तु जब बुद्ध के उपदेशों के विरुद्ध उनके मार्गदर्शन के अभाव में चक्र को पूरा करने के लिए निराधार प्रयास किए गए तो उनका प्रतिफल बौद्धिक किंकर्तव्यविमूढता और आध्यात्मिक अव्यवस्था में ही हुआ। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए शंकर ने अद्वैत का मंत्र दिया।

(3) राजनैतिक स्तर पर राष्ट्रीय एकता

धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के साथ-साथ शंकराचार्य जी ने राजनैतिक स्तर पर भी देश में एकात्मता स्थापित की। उस समय देश छोटे-छोटे राज्यों के रूप में अनेक राज्य सत्ताओं में बँटा हुआ था। शंकर के प्रयास और प्रभाव से 59 राज्यों में सुदृढ़ आधार पर एकता स्थापित हुई। उन्होंने हिन्दुओं के 72 सम्प्रदायों और बौद्ध तथा जैन मतों को बिना किसी का रक्त बहाए एकात्मता के सूत्र में बांध दिया। राष्ट्रीय क्षेत्र से आगे बढ़ कर उन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति को भी समानता के आधार पर एक माना है। यही नहीं, ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' के आधार पर तो उन्होंने सम्पूर्ण भू- मण्डल के जीवों को

एक माना है । अन्नपूर्णा देवी की आराधना करते हुए उन्होंने कहा है कि उनकी माँ पार्वती है और पिता महेश है । सभी शिव भक्त उनके बन्धु हैं और उनका संसार तीनों लोक स्वर्ग, भू और पाताल है । यहाँ वे राष्ट्रीयता की सीमा से आगे बढ़ कर समस्त विश्व और उससे भी आगे समस्त सृष्टि को अपना मानते हैं ।

(4) नैतिक स्तर पर एकता

किसी भी आदर्श की मात्र बौद्धिक अवधारणा ही पर्याप्त नहीं है । बौद्धिक स्तर पर जो कुछ पाया जाए उसे व्यवहार में भी लाया जाना चाहिए । सिद्धान्त और व्यवहार की एकता का कार्य किसी के जीवन काल में ही पूरा हो जाए तो इससे अच्छी बात और कोई नहीं । आदिशंकराचार्य जी का कहना था कि बौद्धिक स्तर पर हमारे पास अनेक आदर्श हैं किन्तु यदि हम एक भी आदर्श को वास्तविक रूप में व्यवहार में ला सकें तो जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाएगा । इस संदर्भ में आदिशंकराचार्य के लिए अद्वैत की भावना का प्रसार मात्र एक बौद्धिक लक्ष्य नहीं वरन् वह एक नैतिक और समर्पित जीवन की स्थापना करना है ।

विवेक चूड़ामणि में कहते हैं कि ब्रह्म के उच्चारण की आवृत्ति मात्र से ही मुक्ति नहीं होती उसके लिए तो ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति होनी चाहिए । अनुभूति के लिए उन्होंने मन, वचन और कर्म के समन्वय और एकता पर बल दिया है । इस एकत्व के बल पर उन्होंने न केवल स्वयं ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया है वरन् अनेक अन्य लोगों को भी कराया है । उनके अनुसार वही धर्म, वही समाज, वही संस्कृति और वही राष्ट्र जीवित रह पाता है जिसके चरित्र में यह विशिष्ठता होती है ।

सहृदयता और सहनशीलता के आधार पर प्राणी मात्र की एकता

आत्मा के मूलतः अपरिवर्तनीय होने की शंकर की मान्यता के आधार पर और उसके आत्म केन्द्रित मानवता के सिद्धान्त के फलस्वरूप केवल सम्पूर्ण मानव जाति में ही वरन् समस्त प्राणियों में

सहृदयता और सहनशीलता के आधार पर ठोस एकता स्थापित हो सकती है । इस एकता को स्थापित करने की शुरुआत के लिए कहा जा सकता है कि अपने पड़ोसी को अपने समान ही प्यार करो । परन्तु मैं उससे प्यार क्यों करूं? वह तो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा अन्य सभी प्रकार से मुझसे एकदम भिन्न हैं । लेकिन आचार्य जी के अनुसार प्रश्न में ही उत्तर निहित है । उपनिषदों के आधार पर उनका कहना है कि क्योंकि वह भी मैं ही हूँ । वही आत्मा या ब्रह्म जो मेरे अन्दर है वही उसमें भी है और इस प्रकार निश्चित् रूप में वह मेरे से भिन्न नहीं है । अतः वह मेरा पड़ोसी मेरे प्यार, आदर और श्रद्धा का अधिकारी है ।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी को उसकी अच्छाई, सुन्दरता, धन, शक्ति या दयालुता के कारण प्यार नहीं किया जाता बल्कि आत्मा की एकता के कारण ही किया जाता है । इसी आधार पर आचार्य शंकर का कहना है कि किसी को उस आधार पर जो दिखाई देता है, प्यार नही किया जाता बल्कि उनके अन्दर बैठी शाश्वत, अनादि, विश्वजनीन आत्मा के लिए प्यार किया जाता है । इसी अद्वैत दर्शन की पृष्ठ भूमि पर विवेकपूर्ण, स्थायी और मजबूत आधार पर सहनशीलता, मान्यता, स्वीकृति आदि गुणों और मूल्यों के माध्यम से शंकर हर वस्तु, पदार्थ और व्यक्ति से आवश्यक एकता स्थापित करते हैं ।

अतः आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, नैतिक और सहृदयता एवं सहनशीलता के आधार पर देश के जन-जीवन में एकात्मता स्थापित करने के इन सराहनीय कार्यों से राष्ट्र को वह नवीन दृष्टि, अनुपम उत्साह, नूतन प्रेरणा और अतुलनीय साहस मिला जिसके फलस्वरूप आने वाले काफी समय तक वह सजग, सशक्त और जागरूक रह कर जीवन्त बना रहे ।

(22)

श्रीशंकर एवं महर्षि दयानंद

लोग समझते हैं कि दोनों के सिद्धान्त पृथक् पृथक् थे। परन्तु ऐसी बात नहीं है। शंकर व दयानंद दोनों संन्यासी थे। दोनों सत्य की खोज में निकले थे। दोनों ने विवाह नहीं किया और दोनों ही आदित्य ब्रह्मचारी थे। दोनों ने वैदिक धर्म का प्रचार किया, दोनों ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया। दोनों ने अनेकों शास्त्रार्थ किये और अपने विरोधियों को पराजित कर दिया। दोनों ने अनेकों ग्रंथों का सृजन किया। श्री शंकर ने पौराणिक भाइयों के लिए प्रस्थानत्रयी – उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर सर्वप्रथम भाष्य किये। इसी प्रकार महर्षि दयानंद के भी आर्यसमाजियों के लिये प्रस्थानत्रयी सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि की रचना हिन्दी भाषा में की। वस्तुतः दोनों ही महान् क्रांतिकारी, उच्चकोटि के दार्शनिक और महामानव थे क्योंकि दोनों का चरित्र अत्यंत उत्तम एवं उज्जवल थे।

(23)

महाप्राण

अंततः आदिशंकराचार्य सारे भारत में प्रचार करके आसाम पहुँचे तो शाक्तमत के आचार्य अभिवन गुप्त से उनका शास्त्रार्थ हुआ और आचार्य अभिवन गुप्त को श्रीशंकर ने शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया और वह उनका शिष्य बन गया। परन्तु प्रतिहिंसा वश कोई गुप्त प्रयोग करके उसने श्रीशंकर के शरीर में भगन्दर की व्याधि उत्पन्न कर दी। श्री शंकर के शिष्यों ने बार-बार इस व्याधि का इलाज करवाने की सलाह दी। परन्तु उन्होंने इसको अपना प्रारब्ध मानकार कोई प्रयत्न

नहीं किया और अपने कार्य को करते रहे। श्री शंकर ने अपने शिष्यों को अपना निम्नलिखित अंतिम उपदेश दिया–

हे शिष्यो! अब तुम सब दैवत्य प्राप्त करने और मुमुक्षजनों को उपदेश देने में सदा सावधान रहकर उद्योग करते रहना। तोटक को उत्तर दिशा में ज्योतिर्मठ, पद्मपाद को पूर्व दिशा में गोवर्धन मठ, हसतामलक को पश्चिम दिशा में शारदामठ और सुरेश्वर को दक्षिण दिशा में शृंगेरी मठ की स्थापना करके अपने इस अभेद अद्वैत ज्ञान का प्रचार धैर्य और दृढ़ता से निरंतर करते रहने की आज्ञा दी। आप सब शिष्यों को इन चारों का सम्मान करना चाहिये। अधिकारियों को वैदिक मार्ग में प्रवृत्त करना और दुराचारियों का सुधार करना चाहिये।

इस प्रकार **"ओ३म् तत्सत्, ओ३म तत्सत्"** (अर्थात् वह प्रभु ही शाश्वत है वह प्रभु ही शाश्वत है) कहते-कहते हाथों में केवल कमण्डल और योगदण्ड लेकर बद्रीकानाथ से केदारनाथ यात्रा पर निकल पड़े। यह उनकी अंतिम यात्रा थी। यहीं एक दिन 32 वर्ष की अल्पायु में ब्रह्मलीन हो गये। अतः इश्वरी प्रसाद जी ने लिखा है–

अवैदिक मतों का प्रबल खण्डन के कारण ही इस आदित्य ब्रह्मचारी और विद्या के सूर्य रूप महापुरुष को भी मानवता के शत्रुओं ने ऋषि दयानंद की भाँति ही जहर खिलाकर असमय से ही छीन लिया।

(–जगद्गुरु शंकराचार्य और मूर्तिपूजा, पृ० 17)

लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?
16. शेर-ओ-शायरी

लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. वैदिक उपनिषद्वाणी
2. वैदिक दर्शनवाणी
3. वैदिक महाभारत
4. वैदिक गीता
5. अमर धर्मग्रंथ
6. अमर नीतिग्रंथ
7. पुराणपरिचय
8. ईश्वरसिद्धि
9. राष्ट्रभाषा हिन्दी
10. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
11. महावीर हनुमान
12. योगिराज श्रीकृष्ण
13. आदिशंकराचार्य
14. आचार्य चाणक्य
15. दस गुरु
16. आर्यसमाज के महामानव
17. स्वामी रामतीर्थ
18. संस्कार
19. गीतांजलि
20. आर्यसमाज
21. ओ३म्
22. गायत्रीरहस्य
23. ज्ञानामृत
24. यज्ञ
25. संत
26. संतवाणी
27. सामान्य हिन्दी (भाग I-II)
    (सब कक्षाओं के लिये)
28. **Great Thoughts**
29. **General English (Part I to V)**
    (For All Classes)